हमारा आलोचना-साहित्य

१.	प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व	हंसराज 'रहबर'	६।।)
२.	हिन्दी कविता में युगान्तर	डॉ. सुधीन्द्र	८)
३.	रोमांटिक साहित्य-शास्त्र	देवराज उपाध्याय	३।।।)
४.	सुमित्रानन्दन पंत	शचीरानी गुर्टू	६)
५.	महादेवी वर्मा	"	६)
६.	काव्य के रूप	गुलाबराय, एम. ए.	४।।।)
७.	सिद्धान्त और अध्ययन	"	६)
८.	हिन्दी-काव्य-विमर्श	"	३।।)
९.	साहित्य-समीक्षा	"	१।।।)
१०.	उद्धव शतक-परिशीलन	अशोककुमार सिंह	१।।)
११.	कला और सौंदर्य	रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'	३।।।)
१२.	समीक्षायण	कन्हैयालाल सहल	३)
१३.	दृष्टिकोण	"	१।।)
१४.	प्रबन्ध-सागर (सजिल्द)	यज्ञदत्त शर्मा	५।।)
१५.	मैंने कहा (हास्य-निबन्ध)	गोपालप्रसाद व्यास	३)
१६.	हिन्दी के नाटककार	जयनाथ 'नलिन'	५)
१७.	कहानी और कहानीकार	मोहनलाल जिज्ञासु	३)
१८.	आलोचक रामचन्द्र शुक्ल	गुलाबराय तथा विजयेन्द्र स्नातक	६)
१९.	प्रगतिवाद की रूपरेखा	मन्मथनाथ गुप्त	७)
२०.	वाद-समीक्षा	कन्हैयालाल सहल	।।।)
२१.	साहित्य-विवेचन	क्षेमचन्द्र 'सुमन' तथा योगेन्द्र कुमार मलिक	६)
२२.	भाषा-विज्ञान-दर्शन	कृष्णचन्द्र शर्मा तथा देवीशरण रस्तोगी	१।।)
२३.	हिन्दी साहित्य और उसकी प्रगति	विजयेन्द्र स्नातक तथा क्षेमचन्द्र 'सुमन'	३)

आत्माराम एण्ड संस,

Library IIAS, Shimla
H 811.31 B 489 G
00070141

बिहारी-वैभव

कमला देवी गर्ग

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली

H
811.31
B189G

INDIAN INSTITUTE OF
ADVANCED STUDY
LIBRARY SIMLA

Bihari - Vaibhav

बिहारी-वैभव

(महाकवि बिहारी का आलोचनात्मक परिचय तथा
उनके चुने हुए दोहों का संकलन)

ed. by Kamla Devi Garg

सम्पादिका

कमला देवी गर्ग, एम. ए.

अध्यक्ष हिन्दी विभाग

हिन्दी विश्वविद्यालय (महिला-विभाग)

दिल्ली

1953

Atmaram & Sons
Delhi

१९५३

आत्माराम एण्ड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता

काश्मीरी गेट

दिल्ली ६

CATALOGUED

प्रकाशक

रामलाल पुरी

आत्माराम एण्ड संस

काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

Library IIAS, Shimla

H 811.31 B 489 G

00070141

Atmaram & Sons

PRICE : 5/=

H
811.31
B489G

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान शिमला
Indian Institute of Advanced Study, Simla
परिग्रहण संख्या
Accession No. 70141
Date 8/9/87

मुद्रक

अमरजीतसिंह नलवा

सागर प्रेस

काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ
परिचय	...	...	१
१. सौंदर्यानुभूति	...	...	२५
२. प्रकृति-पर्यवेक्षण	...	...	३०
३. उक्ति वैचित्र्य	...	...	३४
४. व्यंगोक्तियाँ	...	...	४६
५. जीवन-दर्शन	...	...	५०
६. आत्म-बोध	...	...	६४
अनुक्रमणिका	...	...	७३

बिहारी वैभव

परिचय

कलाकार की कीर्ति का आधार उसकी कृति हुआ करती है। कृतियों की संख्या अथवा परिमाण की अधिकता वा न्यूनता ही कलाकार के कृतित्व का मापदंड नहीं है। अनेकों कलाकारों के यशध्वज उनकी असंख्य सुन्दर कृतियों के कारण चिरकाल से फहरा रहे हैं, किन्तु ऐसा भी देखने में आया है कि कोई कलाकार केवल अपनी एकमात्र रचना के ही कारण कृती बन गया, और कला के क्षेत्र में अमर हो गया। तब यह तथ्य सिद्ध हो जाता है कि परिमाण या संख्या कृति की सफलता का मान नहीं है वरन् गुण ही उसका यथार्थ मापदंड है। कृति की सफलता विस्तार की अपेक्षा गहनता पर निर्भर करती है।

हिन्दी साहित्य में रीतिकाल के कविवर बिहारीलाल ऐसे ही कलाकार थे। इनकी केवलमात्र एक ही कृति की सूचना मिलती है। यह उपलब्ध भी है। कवि की स्वलिखित प्रति का तो कोई संधान नहीं मिला है, किन्तु हस्तलिखित प्रतियाँ विविध अंचलों में यथेष्ट संख्या में प्राप्त हैं। जितनी लोकप्रिय इनकी रचना 'बिहारी सतसई' हुई है उतनी गोस्वामी तुलसीदास के 'मानस' को छोड़कर अन्य कोई रचना शायद ही हो सकी हो। इस कथन की सार्थकता सिद्ध करने के लिए एक तर्क यह भी है कि मुद्रण-कला के अभाव के युग में भी उक्त रचना ने लोगों को इतना आकृष्ट किया कि इसकी हस्तलिखित प्रतिलिपियाँ अन्य रचनाओं की अपेक्षा कहीं अधिक संख्या में प्राप्त हैं। केवल प्रतिलिपियाँ ही नहीं वरन् इसकी टीकाओं की संख्या भी उन से कुछ कम नहीं है। राजस्थान में रचित इस कृति ने लोगों को इतना आकर्षित किया कि सुदूर पूर्व में बंगाल के मुर्शिदाबाद के प्राचीन घरानों में आज भी कुछ हस्तलिखित प्रतियाँ

टीकासहित सुरक्षित हैं। कहने का तात्पर्य यह कि यातायात की असु-विधाओं से पूर्ण उस युग में मुद्रण-कला के अभाव में भी इतने बड़े देश के सुदूर अंचलों तक में इसने ख्याति प्राप्त की थी। हिन्दीभाषी जन ही केवल आकृष्ट नहीं हुए थे वरन् साहित्यप्रेमी मुसलमान जिन्हें अपनी उर्दू भाषा का कम गर्व न था वे भी इस रचना की ओर आकृष्ट हुए थे; बड़े उत्साह से उन्होंने टीकाएँ लिखवाई थीं। इनमें से अनवर खाँ,जुल्फकार खाँ तथा यूसुफ खाँ की टीकायें बहुत प्रसिद्ध हैं। 'विहारी सतसई' के दोहों पर सवैये, छप्पय, कुंडलियाँ आदि बैठाई गईं पर किसी को विहारी की-सी सफलता नहीं मिली। सतसई का उर्दू में तथा संस्कृत में अनुवाद हो चुका है। संस्कृत में अनूदित पं० परमानन्द की 'शृंगार सप्तशतिका' एवं उर्दू में मुंशी देवीप्रसाद प्रीतम का 'गुलदस्तए विहारी' यथेष्ट प्रसिद्ध है। रसिक समाज में यह रचना अपनी विलक्षणताओं के कारण समादृत हुई। इसके छोटे-छोटे दोहों में रस की मधुर व्यंजना, अलंकारों की सुष्ठु योजना और शब्दों का अपूर्व लालित्य बहुत ही हृदयग्राही है।

'विहारी सतसई' के रचयिता कविवर विहारीलाल का जन्म ग्वालियर के निकट गोविन्दपुर में संवत् १६५६ के लगभग माना जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल संवत् १६६० मानते हैं। उनके अनुसार इनका काल संवत् १६६०–१७२० है। श्री राधाकृष्णदास जी इनका जन्म केशवदास जी की विज्ञानगीता के रचनाकाल संवत् १६६७ के आसपास ठहराते हैं। विहारी के लिए एक दोहा प्रसिद्ध है—

जनम ग्वालियर जानिए, खंड बुंदेले बाल।
तरुणाई आई सुभग, मथुरा बसि ससुराल॥

इसके अनुसार ज्ञात होता है कि इनकी बाल्यावस्था बुंदेलखंड में बीती और तरुणावस्था में ये अपनी ससुराल मथुरा में आ बसे। इनके पिता का नाम केशवराय था तथा दादा का नाम वासुदेव। ये धौम्य गोत्री माथुर चौबे थे। श्री राधाकृष्णदास जी इससे सहमत नहीं हैं। अपने कथन की पुष्टि के लिए वे "जनम लियो द्विजराज कुल···" की हरि-

चरणदास की टीका तथा गोस्वामी राधाचरण जी का अनुमान उपस्थित करते हैं कि केशव ही बिहारी के पिता हैं। 'राय' का उल्लेख केशवदास अपने लिए ही करते थे। एशियाटिक सोसाइटी में संग्रहीत 'विज्ञान गीता' (केशवदास रचित) में केशवराय का उल्लेख केशवदास जी ने अपने लिए किया है। वे सनाढ्य ब्राह्मण थे। इस प्रकार उनके अनुसार बिहारीलाल भी सनाढ्य ब्राह्मण ठहरते हैं। किन्तु यह उनका तर्क मान्य नहीं प्रतीत होता है। यह एक संयोग की बात ही थी कि बिहारी के पिता का नाम भी केशवराय था। बिहारी की माता की मृत्यु के पश्चात् इनके पिता ओड़छा आ गए। ओड़छा के निकट ही गुढ़ौग्राम में श्री नरहरिदास जी रहते थे, वहाँ केशव भी आया-जाया करते थे। 'रत्नाकर जी' का अनुमान है कि नरहरिदास जी के अनुरोध से आचार्य केशवदास जी ने कुछ काल तक अपने साथ रखकर काव्यरीति आदि की शिक्षा बिहारी को दी होगी। संवत् १६७० में नरहरिदास की अनुमति से बिहारी के पिता जब वृन्दावन आए तब उनके साथ बिहारी भी चले आए होंगे। वहाँ नागरीदास जी जैसे साहित्य-मर्मज्ञों के सम्पर्क में आने का सुयोग मिला। यहीं संवत् १६७५ में शाहजहाँ से जान-पहचान हुई। शाहजहाँ अपने पिता जहाँगीर के साथ आया था। जहाँगीर ने अपनी 'तुज़ुके जहाँ-गीरी' में वृन्दावन आने का और वहाँ चितसखानन्द स्वामी के दर्शन की बात का उल्लेख किया है (आचार्य केशवदास जी के सम्बन्ध में इस प्रकार के किसी प्रसंग की सूचना कहीं भी नहीं मिलती है)। बिहारी की कविता से प्रसन्न होकर शाहजहाँ इन्हें आगरे ले गया।* यहीं कहते हैं कि रहीम

---

*रोजर्स की 'तुज़ुके जहाँगीरी' में जहाँगीर के वृन्दावन प्रवास का उल्लेख है किन्तु, शाहजहाँ के इस प्रसंग की सूचना नहीं है। वरन् उसके अनुसार तो शाहज़ादा खुसरो उक्त समय में दक्षिण में युद्ध के लिए भेजा गया था। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने इसका उल्लेख कर दिया है किन्तु इस सूचना का प्रामाणिक आधार अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है।

ख़ानख़ाना से इनकी भेंट हुई। ख़ानख़ाना ने इनकी बड़ी प्रशंसा की जिस से इनका मान बढ़ गया। शाहजहाँ को प्रसन्न रखने के लिए और अपनी गुण-ग्राहकता प्रदर्शित करने के लिए बहुत से राजा-महाराजा बिहारी पर कृपा-वर्षा करने लगे। इनके लिए वार्षिक वृत्तियाँ बंध गईं और मित्र राजाओं के यहाँ इनका आना-जाना होने लगा।

संवत् १६८१ के लगभग इसी प्रकार की एक वृत्ति के सिलसिले में इन्हें आमेर जाना पड़ा। उन दिनों मिर्ज़ा राजा जयसिंह वहाँ के अधिपति थे। मुग़ल दरबार में इनका बड़ा मान था। अपनी वीरता तथा बुद्धिमत्ता के कारण दरबार में इनका स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। ये अपने पितामह मानसिंह के योग्य उत्तराधिकारी थे। इन्होंने मुग़ल साम्राज्य के पराक्रम तथा वैभव से पूर्ण युग के तीनों बादशाहों के युग को देखा। जहाँगीर के अन्तिम काल के कुछ महत्त्वपूर्ण वर्षों से लेकर औरंगज़ेब के सिंहासनारूढ़ होने के अनन्तर लगभग नौ वर्ष तक इनका स्थान मुग़ल दरबार के अति प्रमुख राजाओं में था। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय क़ाबुल तथा अन्य उपद्रवपूर्ण राज्यों के दमन के लिए इन्हें ही भेजा गया था। सन् १६४५-४७ अर्थात् संवत् १७०२–१७०४ के लगभग बलख़ की लड़ाई में इन्होंने भाग लिया था—बिहारी के कुछ दोहों से इसकी पुष्टि भी होती है—

१. सामांसेन······तिहारे हाथ।

२. यों दल काढ़े बलक तें, तें जयसिंह भुवाल।
उदर अघासुर के परें, ज्यों हरि गाइ, गुवाल॥

३. घर घर तुरकिनि······

(बिहारी रत्नाकर)
'दो० ७१०-७११-७१२'

श्यामसुन्दरदास जी, तथा रत्नाकर जी मानते हैं कि संवत् १७०४ के आसपास ही बिहारी ने अपनी रचना की और इन अन्तिम दोहों को लिखा। किन्तु राधाकृष्णदास जी उपर्युक्त (१) दोहे को सन् १६२८

के क़ाबुल युद्ध के साथ संबद्ध करते हैं। श्यामसुन्दरदास जी तथा रत्नाकर जी सहमत हैं कि दोहा (२) जयसिंह की सफलता की प्रशंसा में है, किन्तु राधाकृष्णदास जी का अनुमान है कि दोहा (३) सन् १६६५ अर्थात् संवत् १७२२ में शिवाजी तथा औरंगज़ेब की उस भेंट जिसके लिए जयसिंह ने उद्योग किया था, की ओर संकेत करता है। इतना तो स्पष्ट है कि बिहारी के दोहों के आधार पर यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि इनका काल तथा मिर्ज़ा राजा जयसिंह—जयसाह का समय एक ही था। शाहजहाँ के समय में तीनों—शाहजहाँ, जयसिंह और बिहारी—अपनी प्रतिष्ठा एवं उत्कर्ष की पराकाष्ठा को पहुँच रहे थे। जयसिंह की मृत्यु का समय १० जुलाई, १६६७ ई०–संवत् १७२४ माना जाता है। अतः यह स्वाभाविक ही प्रतीत होता है कि बिहारी की रचना औरंगज़ेब (१६६८ ई०) जिसका युग अशान्ति से पूर्ण था, के पूर्व हो चुकी रही होगी तथा जयसिंह के पास भी यथेष्ट अवकाश रहा होगा कि वे बिहारी की रचनाओं का रसास्वादन कर सकें। इस दृष्टि से रत्नाकर तथा श्यामसुन्दरदास जी का अनुमान मान्य जान पड़ता है।

जयपुर-दरबार में प्रविष्ट होने की कथा इस भाँति प्रसिद्ध है कि जिस समय बिहारी अपनी वृत्ति के संग्रह के लिए आमेर–जयपुर पहुँचे उस समय जयपुर दरबार में एक हलचल-सी मची हुई थी। कारण, उन दिनों राजा अपनी नवविवाहिता रानी के प्रेम में इतने पगे हुए थे कि राजकार्य की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते थे। यहाँ तक कि महल से बाहर भी नहीं निकलते थे। राज्य में बड़ी अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी। एक ओर जहाँ मंत्री आदि परेशान थे, दूसरी ओर बड़ी रानी अनन्तदेवी जो चौहानी रानी के नाम से प्रसिद्ध थीं, भी बहुत चिन्तित हो उठी थीं। ऐसे ही समय जब बिहारी पहुँचे तो रानी ने तथा मंत्री आदि ने उनका स्वागत किया। मुग़ल दरबार में बिहारी की प्रतिष्ठा के कारण सभी उनका सम्मान करते थे। कोई भी उनकी उपेक्षा करने का साहस नहीं करता था। अतः उनके आगमन की सूचना देकर राजा को बाहर

वुलाने का उपाय सोचा गया। किन्तु कठिनाई थी कि किसी भी प्रकार के संवाद से राजा वाहर नहीं ग्राते थे। बिहारी को परिस्थिति से परिचित कराया गया, और उनसे अनुरोध किया गया कि वे स्वयं ही अपने आगमन की सूचना भेजें—चौहानी रानी को प्रसन्न करने के लिए, तथा मुग़ल दरवार में कुछ ईर्षालू व्यक्तियों के षड़यन्त्र के कारण शाहजहाँ के कोप से राजा को सचेत करने के लिए,उन्होंने एक दोहा लिख भेजा—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बंध्यो, आगे कौन हवाल ?

इस दोहे का प्रभाव अचूक पड़ा—राजा महल से बाहर आए, और राज्य-व्यवस्था संभली। राजा उक्त दोहे से बहुत प्रसन्न हुए, चौहानी रानी भी कार्यसिद्धि के कारण बिहारी के प्रति कृपालु हो उठीं। उन्होंने काली पहाड़ी नामक गाँव देकर बिहारी को पुरस्कृत किया तथा अपनी ड्योढ़ी का कवि वना लिया। उन्होंने उक्त अवसर पर एक चित्र भी खिचवाया जो अब तक जयपुर-महल में लगा है। इस प्रकार बिहारी के आमेर में रहने का आयोजन हो गया। महाराज ने बिहारी को सरस दोहे वनाने की आज्ञा दी। बिहारी दोहे वना-बनाकर सुनाने लगे और उन्हें प्रति दोहे पर प्रतिज्ञानुसार एक-एक अशर्फ़ी मिलने लगी। जयसिंह की प्रेरणा से ही उन्होंने रचनाएँ कीं, इस की पुष्टि स्वयं बिहारी के एक दोहे से होती है जो कि संभवतः 'सतसई' का अन्तिम दोहा है—

हुकुम पाई जयसाहि कौ, हरि-राधिका-प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक संवाद॥

जयसिंह के काल के उपरान्त इनकी भी कोई सूचना नहीं मिलती है। संभव है कुछ वर्षों के अन्तर से दोनों ही समकालीन रहे हों। 'बिहारी सतसई' के अतिरिक्त इन्होंने कोई और रचना भी की थी या नहीं, यह निश्चित नहीं ज्ञात हो सका है।

श्यामसुन्दरदास जी के अनुसार बिहारी की निम्नलिखित वंशावली है।

वासुदेव
|
केशवराय
|
भाई | बिहारी | बहन
भाई → कृष्णलाल (निरंजनकृष्ण) को बिहारी ने गोद लिया था।
बहन → कुलपति मिश्र 'हिन्दी के एक प्रसिद्ध कवि'

कृष्णलाल (निरंजनकृष्ण)
|
गोकुलदास
|
खेमकरन
|
दयाराम
|
मानिकमनि
|
गनेस
|
बालकृष्ण
|
अमरकृष्ण

कृष्णदत्त कवि ने 'सतसई' पर सवैये लिखे हैं, वे उपर्युक्त कृष्णलाल से भिन्न हैं। लोग भ्रमवश इन दूसरे कवि को बिहारी का पुत्र मानते हैं। डा० श्यामसुन्दरदास बिहारी के सम्बन्ध में एक बड़ी मनोरंजक सूचना देते हैं जिसे वे स्वयं संदिग्ध कहते हैं। अभी तक जो कुछ भी सामग्री प्राप्त हुई है उससे इतना ही ज्ञात होता है कि 'बिहारी सतसई' ही बिहारी की एकमात्र रचना है। इसके अतिरिक्त उनकी अन्य किसी रचना की

उपलब्धि का स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। बिहारी का दोहाबद्ध एक जीवन-वृत्त मिला है जिसमें लिखा है कि दोहे वास्तव में बिहारी की स्त्री ने बनाए हैं, बिहारी उन्हें दरबार में ले जाकर पढ़ दिया करते थे। उसमें यह भी लिखा है कि चौदह सौ दोहे उसने बनाए थे जिसमें से सात सौ चुनकर 'सतसई' में रखे गए हैं। इस प्रकार के अनुमान को कल्पना ही कहना समीचीन होगा। इसे प्रमाणित करने के लिए कोई साक्ष्य नहीं मिलते हैं। इससे इतना अनुमान किया जा सकता है कि बिहारी ने सात सौ दोहे ही नहीं रचे थे, वरन् उनकी संख्या इससे अधिक ही रही होगी। यों भी साधारणतः 'सतसई' की जितनी भी प्रतियाँ मिली हैं उनमें प्रायः सात सौ तेरह दोहे तो मिलते ही हैं। कहते हैं जोधपुर में दूहासंग्रह के नाम से १५-१६ सौ दोहों का एक संग्रह है जिसमें बहुत से दोहे बिहारी के हैं। संपूर्ण रचना बिहारी की है—प्रमाणों के अभाव में इसे मानना कठिन है।

'बिहारी सतसई' की प्रतियों के यथेष्ट कष्टसाध्य अनुसंधान के पश्चात् रत्नाकर जी ने 'बिहारी रत्नाकर' में 'सतसई' का पाठ निर्धारित किया।

ग्रियर्सन साहब ने अपने इतिहास में निम्नलिखित टीकाकारों का उल्लेख किया है।

चन्द्र कवि—वि० १६९२।

बन्दन बाबू—भूपाल रिसासत के।

सुलतान पठान—राजगढ़ नवाब के भाई के दरबार में थ। 'सतसई' की टीका कुंडलियों में की है।

सुरति मिश्र, आगरा—अमर चन्द्रिका सं० १८१६।

एक टीका आजमशाही टीका के नाम से प्रसिद्ध है (सं० १७८१)। इसका जो क्रम उपलब्ध है उसके लिए कहा जाता है कि शाहज़ादा आज़मशाह के लिए तैयार किया गया था।

कृष्ण कवि की टीका—बिहारी चन्द्रोदय—कृष्ण विनोद।

इनके लिए प्रसिद्ध है कि ये बिहारी के शिष्य थे। ये सवाई राजा

जयसिंह की सेवा में थे। टीका के साथ ही एक शब्दावली भी दी है। इनका समय १६८३ ई० माना जाता है। ग्रियर्सन इन्हें औरंगजेब के दरबार का कवि मानते हैं।

करन भट्ट—(पन्ना के चारण कवि)—बुन्देलखण्ड—वि० १७३७। इनकी टीका का नाम 'साहित्य-चन्द्रिका' है। शिवसिंह सरोजकार ने इन्हें किन्हीं राजा समासिंह पन्ना के दरबार में बताया है।

अनवर खाँ—१७२३ वि०—'बिहारी सतसई' की टीका 'अनवर चन्द्रिका' के नाम से लिखी है।

जुल्फकार खाँ—१७२५ वि०।

यूसुफ खाँ १७३४ वि०—'बिहारी सतसई' की टीका के अतिरिक्त केशव की 'रसिकप्रिया' पर भी इन्होंने एक टीका लिखी है।

रघुनाथ—१७४५ ई०—बनारस के वरिबन्दसिंह के दरबार में थे। इनकी टीका वहाँ बहुत ही प्रशंसित हुई है।

लल्लूजी लाल—'लालचन्द्रिका'।

रत्नाकर, कृष्ण कवि की तथा लल्लूजी लाल की टीका के अतिरिक्त मानसिंह की, हरिप्रकाश, श्रृंगार सप्तशती, प्रभुदयाल पाण्डे तथा रसकौमुदी का उल्लेख करते हैं।

'सतसई' ने न जाने कितनों को आकृष्ट किया है कि जिन में से उपर्युक्त कुछ टीकाएँ तो अभी प्रकाश में आई हैं, और इनके अतिरिक्त न जाने कितनी ही टीकाएँ हैं जो अभी तक अज्ञात हैं।

पठान सुलतान की कुंडलियों के अतिरिक्त भारतेन्दु तथा जोखूराम की कुंडलियों का उल्लेख किया जाता है। संवत् १८०९ में नरवरगढ़ के शासक के लिए नवाब ईस्वी खाँ ने एक टीका गद्य में लिखी थी।

आधुनिक युग में रत्नाकर की टीका के अतिरिक्त पद्मसिंह शर्मा का 'संजीवन भाष्य' तथा लाला भगवानदीन की टीका प्रसिद्ध है। बंगाल में 'बिहारी सतसई' का अनुवाद बंगला में एवं दोहों में किया जा रहा है।

काव्य—क्षेत्र में सतसई लिखने की परम्परा कुछ वहुत नवीन नहीं है। सब से पहले इस विशेष शैली का प्रयोग प्राकृत में किया गया था। सतसई शब्द संस्कृत के 'सप्तशती' से बना है। सतसई की विशेषता है कि उस में मुक्तक पदों का ही संग्रह रहता है। अतः सप्तशती अथवा सतसई में किसी प्रकार की प्रबन्धात्मकता की अपेक्षा नहीं रहती है। प्रबन्ध काव्य में कथा का क्रम पिछले पद पर आधारित रहता है तथा आगामी पद में उसका विकास निहित रहता है। मुक्तक काव्य में प्रत्येक पद स्वयं में परिपूर्ण रहता हुआ स्वतन्त्र रहता है। काव्य की आत्मा यदि रस है तो उसका परिपाक केवल प्रवन्ध काव्य में ही नहीं वरन् मुक्तक में भी यथेष्ट संभव है। अभिनवगुप्ताचार्य ने कहा है कि—

'पूर्वापरनिरपेक्षापि हि येन रस चर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम'

किन्तु डा० श्यामसुन्दरदास जी इससे सहमत नहीं हैं। वे मानते हैं कि 'मुक्तक में रस की निष्पत्ति हो ही यह भी आवश्यक नहीं, इसमें सुभाषित अथवा वाग्वैदग्ध्य की चमक हो।' काव्य की सफलता तभी मानी जाती है चाहे वह प्रबन्ध हो अथवा मुक्तक—जब कि उसके द्वारा श्रोता, दर्शक वा पाठकों के हृदय में रस का उद्रेक हो, काव्यकार की अनुभूति का अपर पक्ष सहृदय हो आस्वादन कर सके। संभव है कि प्रबन्ध काव्य का प्रभाव चिरस्थायी हो एवं मुक्तक का अपेक्षाकृत क्षणिक ही हो। सुभाषित या वाग्वैदग्ध्य काव्य की आत्मा नहीं वरन् काव्य-कौशल है। वे सहज में आकृष्ट करने की क्षमता भले ही रखते हों किन्तु उनमें हृदय को छू लेने की शक्ति नहीं है। डा० श्यामसुन्दरदास जी ने साध्य एवं साधन के अन्तर की ओर ध्यान नहीं दिया। इसीलिए वे कहते हैं कि 'सुभाषित से हमारा तात्पर्य नीति धर्म के उपदेश से युक्त सूक्ति से है। वास्तव में मुक्तक की स्वाभाविकता नीति सुभाषित में ही परिलक्षित होती है। इसीलिए उसकी रचना में भी सौकर्य होता है। नीति सुभाषित में पूर्वापर प्रसंग की इतनी आवश्यकता नहीं होती है।'

यहाँ भी डा० श्यामसुन्दरदास शैली एवं विषय दो विभिन्न कोटि के तत्वों को एक मान ले रहे हैं। मुक्तक भावों को अभिव्यक्त करने की शैली विशेष है, और नीति आदि मानसिक भाव विशेष हैं, काव्य-कार अपनी प्रतिभा तथा रुचि के अनुसार ही अपने भावों को प्रबन्ध अथवा मुक्तक शैली के माध्यम से अभिव्यक्त करता है—चाहे वह महा-काव्य हो, या खण्डकाव्य हो, नाटक हो या पद्य हो, अथवा आधुनिक उपन्यास या कहानियाँ इत्यादि हों। मानस की रामकथा को रामचरित-मानस में तुलसीदास जी ने लिखा, किन्तु फिर भी उन्हें सन्तोष न हुआ और उन्होंने कवितावली एवं गीतावली की रचना कर ही डाली। इतना अवश्य है कि कुछ भाव ऐसे हो सकते हैं कि जिनकी अभिव्यंजना मुक्तक में हो तो वे अधिक प्रभावशाली होते हैं। प्रबन्ध शैली की विशिष्टता है कि कथा का क्रम रस विशेष को संचारित करता हुआ उत्सुकता को चरम परिणति तक जागृत रखता हुआ अपने उद्देश्य को सिद्ध करे। इसमें उसका यदि लक्ष्य नीतिपूर्ण है तो कथा का ताना-बाना उसी प्रकार बुना जायगा, रुचि के अनुसार गद्यात्मक अथवा पद्यात्मक रूप भी उपस्थित किया जा सकता है। इसी प्रकार कथावस्तु के अनुकूल ही शैली का चयन किया जाता है। तब यह अनायास कहा जा सकता है कि नीति सुभाषित के लिए मुक्तक ही अनुकूल है। यहाँ तक इस कथन को माना जा सकता है, किन्तु 'रस के परिपाक तथा पूर्वापर प्रसंग' पर विचार कर लेना चाहिए। यदि काव्यकार नीतिपूर्ण विषय को अधिक भावात्मक रूप में उपस्थित करना चाहता है एवं उसके लिए किसी प्रकार की कथा की योजना उसे अभीप्सित नहीं है तो वह मुक्तक शैली को ही अपनाना चाहेगा। सुभाषित तो अभिव्यंजना की विशेषता है—काव्य की प्रत्येक विभिन्न शैलियों में इसकी अपेक्षा रहती है,—अन्यथा काव्य का प्रभाव क्षीण होगा। सूक्ति शब्द सु+उक्ति=सुन्दर कथन का पर्यायवाची है। मुक्तक काव्य में इसकी प्रचुरता रहती है इसलिए इसे सूक्ति काव्य कहते हैं। बहुधा इसका

प्रयोग महापुरुषों के वचनों तथा नीतिपूर्ण उक्तियों के हेतु भी किया जाता है।

काव्य में मुक्तक शैली की अपनी एक विशेषता है जिसकी ओर काव्यकारों को आकृष्ट होने के लिए वाध्य होना ही पड़ता है। कवि इसमें अपने भावों को मधुर कल्पना से आवृत कर हृदयग्राही ढंग से उपस्थित कर सकता है। पूर्वापर प्रसंग का बन्धन न रहने के कारण भावों की विशद व्यंजना की सुविधा उसे रहती है। यही कारण था कि कबीर, सूर, तुलसी आदि अपने सरस भावों को मार्मिक पदों में ही व्यक्त कर सन्तोष लाभ कर सके। मुक्तक काव्य की सफल रचना में कुछ विशेष गुणों की अपेक्षा होती है। कवि के लिए अत्यधिक भावप्रवण एवं कल्पनाशील होना आवश्यक है। पर्यवेक्षण शक्ति प्रचुर हो तथा तत्पर मतिमान हो। अभिव्यंजना के प्रधान माध्यम अर्थात् शब्दों के प्रयोग करने में कुशल हो।

शब्द तीन प्रकार के होते हैं। वाचक, लक्षक और व्यंजक। वाचक—=शब्द, वाचक का अर्थ है वाच्य या वाच्यार्थ, जिस शक्ति के द्वारा अर्थ जाना जाय वह है अभिधा। लक्षक—मुख्यार्थ के वोधक को लक्षक कहते हैं। उस लक्षक के कहने से जिसका भान होता है वह है लक्ष्यार्थ, जिस शक्ति के द्वारा लक्ष्यार्थ का वोध हो उसे लक्षणा शक्ति कहते हैं। व्यंजक—वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त शब्द को व्यंजक कहते हैं। जिस वस्तु का संकेत हो वह है व्यंगार्थ या व्यंग, जिस शक्ति के द्वारा इसका वोध हो वह है व्यंजना। कवि जब उक्त तीनों प्रकार के शब्दों के उचित प्रयोग में कुशल हो जाता है तभी वह अपने भावों को जिस तरह चाहता है उसी प्रकार उपस्थित करता है। काव्य में चमत्कार एवं वाग्वैदग्ध्य की योजना में लक्षणा तथा व्यंजना ही सहायक होती हैं। अभिधा द्वारा इनकी सिद्धि नहीं होती है। इसीलिए मुक्तक की रचनाओं में लक्षणा-ध्वनि तथा व्यंजना का उपयोग बहुलतापूर्वक पाया जाता है। कवि अपनी इस शब्द-शक्ति से संयुत होकर अति

अल्प में ही वहुत कुछ कहने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। इसी से कवि की विचक्षणता एवं सहज वुद्धि का भी परिचय मिल जाता है। काव्य के क्षेत्र में शब्द ही भावों के वाहन हैं। उनके चयन पर ही काव्य की वृत्तियाँ तथा गुण निर्भर करते हैं। अतः कुशल कवि इस ओर समुचित रूप से सावधान रहता है। रीति का सहारा लेकर वह अपनी अभिव्यक्ति में चमत्कार उत्पन्न करता है। कथन में बाकंपन—वक्रता,—गूढ़, क्लिष्ट या गोरख-धंधापूर्ण अर्थ नहीं,—वरन् चमत्कारपूर्ण कोई नवीन अथवा पुरानी उक्ति को एक अभिनव रूप में सहसा वह सामने रखता है। प्रवन्धात्मकता के अभाव में काव्यकार को सुविधा रहती है कि समय-समय पर उठने वाले छोटे-छोटे भावों को वह अलंकारों द्वारा सुसज्जित कर नाना प्रकार से व्यक्त कर सकता है। बोलचाल की भाषा का संपूर्ण माधुर्य मुहावरे में समाहित रहता है, और इसका उपयोग मुक्तक अर्थात् सूक्ति में जितना सुगम है उतना अन्य में नहीं। इसके द्वारा कवि की कल्पना सहज-बोधगम्य होती है तथा वाणी में विदग्धता का संचार होता है। श्रोता एवं पाठकों पर इसका प्रभाव मर्मस्पर्शी होता है। प्रभविष्णु और प्रसाद गुण साथ-साथ चलते हैं।

यही कारण था कि सतसई काव्य में मुक्तक रचनाओं की बहुलता पाई जाती है। पहले ही कहा जा चुका है कि सब से पहले प्राकृत में ही सतसई की रचना हुई। सातवाहन की गाथा सप्तशती का उल्लेख सर्वप्रथम मिलता है। इस रचना का इतना प्रभाव पड़ा कि संस्कृत में आचार्यों का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ। गोवर्धनाचार्य ने गाथा सप्तशती को दृष्टि में रखते हुए आर्या सप्तशती की रचना की—इसका संकेत उनकी एक आर्या से मिलता है—

वाणी प्राकृत समुचित रसा वलेनैव संस्कृतम नीता।
निम्नानुरूप नीरा कलिन्द कन्यैव गगनतलम्॥

—वाणी प्राकृत में ही रसीली लगती है, उसे मैं बलपूर्वक संस्कृत में बदल रहा हूँ। नीचे बहनेवाली यमुना को आकाश की ओर ले जाने का

प्रयत्न कर रहा हूँ।

इससे सिद्ध होता है कि प्राकृत भाषा सप्तशती के लिए अधिक अनुकूल पड़ती थी कारण उसमें संभार की अपेक्षा सहज मार्मिकता अधिक थी। उक्त दोनों सप्तशतियों में सात सौ पद पाए जाते हैं। और इनके परवर्ती सतसइयों में भी सात सौ की संख्या में ही विशेषतः पद लिखे गए। सात सौ की संख्या के प्रति इस प्रकार के आग्रह का कोई निश्चित कारण बताना संभव नहीं। हो सकता है कि सप्त तथा शती का उच्चारण अनुप्रासात्मक होने के कारण श्रुतिमधुर हो। मन्त्र-शास्त्र में सात की संख्या महत्त्वपूर्ण होने के कारण कदाचित् आचार्य-गण उक्त संख्या की ओर अनायास ही आकृष्ट हो गए हों। जो कुछ भी हो ये सब केवल अनुमान ही हैं कोई निश्चित कारण नहीं है। किसी अज्ञात लेखक रचित अमरूकशतक (संस्कृत) में छंद संख्या केवल सौ ही हैं। दुर्गा सप्तशती में संख्या की दृष्टि से इतना ही साम्य है कि इसम ७०० श्लोक हैं।

हिन्दी में बिहारी तथा अन्य कुछ कवियों ने अपनी सतसई रचना में गाथा सप्तशती एवं आर्या सप्तशती को विषय और छंद संख्या के सम्बन्ध में आदर्श माना है जब कि तुलसी आदि ने केवल छंद संख्या की दृष्टि से उक्त प्राचीन सप्तशतियों का अनुसरण किया है। इन में विषय की दृष्टि से महाभारत में विदुर अथवा भीष्म पितामह कथित नीति का आदर्श माना गया है। इनमें सूक्तियाँ नीतिपूर्ण एवं भक्ति सम्वन्धी शान्तरस से परिपूर्ण हैं। तुलसी और वृन्द की सतसइयाँ सूक्ति सत-सइयाँ हैं एवं शेष श्रृंगार सतसइयाँ हैं।

अब तक २२ सप्तशतियाँ हिन्दी में लिखी गई हैं जिनमें सात का स्थान उनकी उत्तमता के अनुसार क्रमशः इस प्रकार हैं—

तुलसी सतसई, विहारी सतसई, वृन्द सतसई, विक्रम सतसई, मति-राम सतसई, रसनिधि सतसई और राम सतसई।

इनमें से प्रथम चार सतसइयों का अपना-अपना नवीन ढंग है परन्तु

अब में 'विहारी सतसई' का ही अनुकरण किया गया है।

संस्कृत तथा हिन्दी की सप्तशतियों में भेद यही है कि संस्कृत में भिन्न रसों में अलंकारों की सहायता से काव्य (मुक्तक) की रचना होती थी। कवि कोई प्रबन्ध रचना या चरित्र-चित्रण न करता था वरन् मानव-जीवन-समूह के विविध पाश्वों को लेकर अपने भावों को प्रगट करता था।

परन्तु हिन्दी में कवियों ने इस परंपरा का पालन नहीं किया। तुलसी ने मानव जीवन को परिष्कृत करने वाला भक्ति मार्ग लिया। इसमें ७१६या ७२३ दोहे हैं। कहीं नीति है तो कहीं शान्त रस का उद्रेक पाया जाता है। वृन्द ने समाज और राज के कौतुक दिखाए और एक नई पद्धति डाली। विक्रम ने शृंगार गर्भित सतसई की रचना की, किन्तु इसमें संस्कृत कवियों से भिन्न कोई क्रम नहीं मिलता है। केवल बिहारी ने प्राचीन परंपरा का अनुसरण किया है। इसमें सात सौ दोहे और कुछ सोरठे हैं—कुछ टीकाओं में दोहों की संख्या कुछ अधिक भी मिलती है। आधुनिक काल में भी चार-पाँच सप्तशतियाँ लिखी गई हैं। इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय है वियोगी हरि कृत 'वीर सतसई' इसे मंगला-प्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ है। इस कृति में यथेष्ट नवीनता है।

'बिहारी सतसई' की भाषा मुख्यतः ब्रजभाषा है। यत्र-तत्र बुन्देली प्रयोग—लखिवी, जानिबी, देखिबी, व्योरति, प्योसाल भी पाए जाते हैं। इसका कारण संभवतः यह हो सकता है कि बिहारी का बाल्यकाल बुन्देलखंड में ही बीता था इसलिए उक्त प्रकार के शब्द अनायास ही आ गये हों। ब्रज की बोलचाल की भाषा का इतना परिष्कृत तथा परिमार्जित रूप बिहारी के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं प्राप्त होता है। भाषा का इतना सुन्दर मुहावरेदार प्रयोग बिहारी की विशेषता रही है। यह भी एक कारण था कि मंजी हुई चुलबुलाती हुई उर्दू से टक्कर बिहारी की ही रचना ले सकी। छोटे-छोटे भावों को बोलचाल की भाषा में मार्मिक ढंग से लघु दोहों में उपस्थित करने की कला बिहारी की अपनी ही थी।

उनके दोहों के लिए प्रसिद्ध है कि गागर में सागर है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह कार्य दुस्तर ही है। भाषा पर जब तक अच्छा अधिकार न हो तब तक इसमें सिद्धि नहीं मिल सकती। गागर में सागर भरने के लिए परिश्रम करना पड़ता है, बिना प्रयत्न के यह संभव भी नहीं। बिहारी की कविता बहुत परिश्रम से लिखी गई है—रीतिकालीन विशेषता भी यही रही है, किन्तु फिर भी बिहारी के दोहों में परिश्रम के कारण अस्वाभाविकता नहीं आ पाई है। कारण, उनका परिश्रम उनकी काव्यानुभूति का सहायक मात्र है। इसीलिए उनकी कविता में बहुत कम उदाहरण ऐसे मिलते हैं जिनमें केवल चमत्कार हों। ब्रज की बोलचाल की भाषा का इतना परिष्कृत और परिमार्जित प्रयोग बहुत कम कवियों ने सफलतापूर्वक किया है। इनकी रचना में शब्दों के साथ बलात्कार कम पाया जाता है। व्याकरण के नियमों का अतिक्रमण भी कम हुआ है। कहीं-कहीं कुछ अपरिचित-से शब्द आगए हैं इसलिए कुछ विचित्र-से प्रतीत होते हैं। किन्तु, संभवत: विरल प्रयोग के कारण ऐसा बोध होता हो। अव्यवहृत होने पर भी हैं शुद्ध संस्कृत के। कहीं-कहीं शब्दों को विकृत भी किया है किन्तु ऐसा नहीं है कि अर्थ कुछ-का-कुछ हो जाय और भावाभिव्यक्ति में अड़चन पड़े। एकाध अपवाद अवश्य हैं—जैसे स्मर के लिए समर, साँस के लिए संसों इत्यादि। फ़ारसी और अरबी के शब्दों का भी प्रयोग किया है—क़िबिलनुमा, ताफ़ता, सबीह आदि। वाक्य-रचना सुगठित है। शब्दों की ठूँसठाँस नहीं है। प्रत्येक शब्द का अभिप्राय-पूर्ण व्यवहार किया गया है। दूरान्वय का दोष इनकी कविता में अवश्य है जिसके कारण भाव भी कहीं-कहीं दुरूह हो गए हैं।

बिहारी के दोहों में सातवाहन की गाथाओं और गोवर्धनाचार्य की आर्याओं के भाव भी मिलते हैं। किन्तु बिहारी ने उन पर अपनी छाप लगा दी है, वे नक़लमात्र ही नहीं रह गए हैं।

गाथा सप्तशती—

अव्वो दुक्करआरअ पुणो वि तंति करेसि गमणस्स।
अज्जवि ण होंति सरला वेणी अ तरंगिणो चिउरा॥ (३।७३)

अहो दुष्करकारक ! पुनरपि चिन्ता करोषि गमनस्य ।
अद्यापि न भवंति सरला वेण्यातरंगिणाश्चिकुराः ।।

वाह ! क्या अनहोनी बात कहते हो फिर जाने की सोचने लगे ! अरे देखते नहीं उलझे बाल तो अभी तक सुलझ भी नहीं पाए ।

इसी भाव को विहारी ने यों प्रगट किया है—

अजौं न आए सहज रंग, विरह दूबरे गात ।
अब ही कहा चलाइयति, ललन चलन की बात ।।

उपर्युक्त आर्या और दोहा अपने ढंग से सुन्दर हैं । किन्तु जिस उद्देश्य से यह उक्ति कही गई है उसकी पूर्ति की ओर विहारी का दोहा अधिक अग्रसर है—नायक के हृदय को अधिक स्पर्श करने वाला है इसीलिए दोहा उक्त गाथा से अधिक प्रभविष्णु है ।

आर्या—

भ्रामं भ्रामं स्थितया स्नेहे तव पयासि तत्र तत्रैव ।
आवर्तपतितनौकायितमनया विनयमपनीय ।। (४२२)

नायक के स्नेहजल में पड़ी हुई नायिका अपनी सखी का विनय नहीं मानकर जलावर्त में पड़ी हुई नौका के समान बार-बार वहीं घूम जाती है ।

इसी को बिहारी कहते हैं—

फिर-फिर चित उतहीं रहतु, टुटी लाज की लाव ।
अंग-अंग छवि झौंर में, भयो भौंर की नाव ।।

आर्या में नायिका मर्यादा तोड़ती है किन्तु दोहे में वह निर्लज्ज नहीं है—विवश है । मर्यादा की रक्षा के लिए प्रयत्नशीला है पर जो स्वतः टूट जाय तो उसके लिए वह क्या करे ? उसका अपराध नहीं विवशता का अपराध है—इसके द्वारा तन्मयता की ओर भी संकेत है । केवल 'विनयमपनीय' और 'टुटी लाज की लाव' का अन्तर है—पर हो गया आकाश-पाताल का अन्तर ।

इसी प्रकार बिहारी के भावों पर अन्य अनेकों कवियों ने रचनाएं

कीं किन्तु बिहारी को न पा सके। उनमें समास-शक्ति और भाव की समाहार-शक्ति चरम सीमा को प्राप्त हुई थी। इसीलिए अन्य कवि बिहारी का अनुकरण न कर सके। बिहारी ने जिस भाव को एक दोहे में कहा है अन्य कवियों को कहीं-कहीं दो या उससे भी अधिक दोहे में कहने पड़े हैं।

बिहारी का एक प्रसिद्ध दोहा है—

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हिय, दई नई यह रीति॥

इसी भाव को रसनिधि ने कितने वाग्विस्तार के साथ कहा है तो भी उक्त भाव को अभिव्यक्त करने में उनके दोहे असमर्थ-से प्रतीत हो रहे हैं—

उरझत दृग बँधि जाति मन, कहो कौन यह रीति।
प्रेमनगर में आइके, देखी बड़ी अनीति॥
अद्‌भुत गति यह प्रेम की, लखौ सनेही आय।
जुरे कहूँ टूटे कहूँ, कहूँ गाँठि परि जाय॥

बिहारी सतसई के द्वारा भाषा पर इनका अधिकार स्पष्ट हो जाता है। भावों का लालित्य उनकी अनोखी उक्तियों में देखने को मिलता है एक स्थान पर सुकुमारता का वर्णन करते हुए कहते हैं—

भूषण भारु संभारिहै, क्यों इहि तन सुकुमार।
सूधे पांइ न धर परें, सोभा ही कें भार॥

भाव अति सरल है किन्तु स्वाभाविकता ही इसका विशेष गुण है। सतसई के कुछ थोड़े से स्थल के अतिरिक्त उसमें इस गुण की प्रधानता पाई जाती है। परन्तु साथ ही यह भी कम विचित्र नहीं है कि जहाँ ये स्वाभाविकता से विलग हुए हैं कल्पना की ऊंची उड़ान भरने लगे वहाँ पर इन्होंने अस्वाभाविकता की पराकाष्ठा ही कर दी है।

सुनत पथिक मुंह माह निसि, चलति लुवै उहि गाम।
बिन बूझें बिनही कहें, जियत बिचारी बाम॥

माघ महीने में बिहारी ही लुएं चलवाने की विशषता से संयुत थे।
बिहारी की कविता अधिकतर वर्णनात्मक है। ऐसी कविताओं में तीव्र-चक्षुता की विशेष अपेक्षा रहती है। बिहारी में यह गुण पर्याप्त मात्रा में था—

विहंसति सकुचति-सी दिएं, कुच आंचर बिच बांहि।
भीजें पट तट कौं चली, न्हाई सरोवर मांह॥

इस दृश्य का वर्णन संभव नहीं है—यह अनुभव ही किया जा सकता है किन्तु कविवर ने उक्त दृश्य का चित्र खींचकर सामने उपस्थित कर दिया है। एक सवाक् चित्र मानो हमारे सम्मुख रख दिया गया है। इन्हीं वर्णनों को देखकर कवि की तीव्रचक्षुता पर चकित हो जाना पड़ता है। इनकी कविता वर्णनात्मक होते हुए भी अन्य कवियों की रचना की भाँति जटिल कल्पना से पूर्ण नहीं है। यह भी इनकी कविता की एक विशेषता थी और बिहारी की सफलता का एक कारण भी था।

बिहारी केवल कवित्व-शक्ति से ही नहीं वरन् काव्य रीति से भी भलीभाँति परिचित थे। इनका कोई भी दोहा अलंकार से रिक्त नहीं है। कहीं-कहीं तो एक ही दोहे में कई कई अलंकार एक ही साथ आ गए हैं और इनका समावेश बड़े ही स्वाभाविक ढंग से हुआ है। 'असंगति' अलंकार में बहुत 'गढ़न्त' की आवश्यकता होती है, किन्तु बिहारी की 'असंगति' भी सुसंगतिपूर्ण है। उदाहरण के लिए 'दृग उरझत टूटत कुटुम···' को ही ले लीजिए।

कभी-कभी अलंकारों का बाहुल्य देखकर यह शंका होने लगती है कि कहीं विहारी भी कविता को अलंकारों से बोझिल बनाना आवश्यक मानते थे, या नहीं! कारण इनकी रचना में ऐसे स्थल भी हैं जिनमें अलंकारों की योजना मानो अलंकारों के लिए ही की गई हैं—

रस सिंगार मंजनु किए, कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हू बिना, खंजनु गंजनु नैन॥

इतना होते हुए भी यह मानना ही पड़ेगा कि ये काव्य रीति के

कुशल ज्ञाता थे तथा इनकी कवित्व शक्ति नैसर्गिक थी। इनकी उत्प्रेक्षा और उपमा बड़ी मनोहर तथा चोखी है।

सोहत ओढ़े पीतपट, स्याम सलोने गात।
मनौ नीलमनि सैल पर आतप पर्‌यो प्रभात॥ (उत्प्रेक्षा)
अधर धरत हरि के परत, ओठ दीठि पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्र-धनुष रंग होति॥ (उपमा)

बिहारी की अन्योक्तियाँ भी बहुत उच्च कोटि की हैं। नीति तथा शिक्षा का अंश जो कुछ इनकी कविता में वर्तमान है वह केवल अन्योक्तियों में है। यथा—

कबौं न ओछे नरन सों, सरत बड़ेन को काम।
मढ़ो दमामो जात कहुँ, कहुँ चूहे के चाम॥

इनकी अन्योक्तियाँ सदाचार, नीति आदि के सिद्धान्तों के अतिरिक्त सामयिक परिस्थिति पर भी प्रकाश डालती हैं—कहते हैं कि एक बार महाराज जयसिंह मुग़ल दरबार के आदेशानुसार एक हिन्दू राजा के ऊपर आक्रमण करने जा रहे थे तो बिहारी ने निम्नलिखित दोहे के द्वारा उन्हें ऐसा करने से रोका और महाराज मान भी गए—

स्वारथु सुकृति न स्रम वृथा, देखि विहंग विचार।
बाज पराए पानि पर, तू पच्छीनु न मार॥

इनकी अन्योक्तियाँ वास्तव में अत्यन्त तीखी हैं इसीलिए लक्ष्य की पूर्ति भी हो जाती है। इन्होंने कहीं-कहीं शिक्षा देने का भी प्रयत्न किया है किन्तु ऐसे स्थलों में भी कवि शृंगार का पुट मिलाए बिना न रह सका—

संगति दोषु लगै सबनु, कहे ति संचे बैन।
कुटलि बंक भ्रुव संग भए, कुटिल बंक गति नैन॥

संगति का प्रभाव इससे अधिक अन्य किस उदाहरण द्वारा सफलतापूर्वक व्यक्त किया जा सकता है?

यह तो प्रत्यक्ष है कि बिहारी का काव्य शृंगार रस प्रधान है। यहाँ

तक कि शान्त एवं हास्य रस-पूर्ण दोहों में भी प्रच्छन्नरूप से विद्यमान हैं। एक स्थान पर किसी वैद्य का मज़ाक करते हुए कहते हैं—

बहु धन ले अहिसानु कै, पारौ देति सराहि।
वैद बधू हँसि भेद सौं, रही नाह मुंह चाहि॥

इस विकट परिहास को परोक्ष में विहारी ही रख सके, साथ ही शृंगार की परिधि से भी वाहर न जा सके। विहारी का सरस हृदय अपने चतुर्दिक शृंगारमय वातावरण का अवलोकन करता था। सभी रसों में समान रूप से सफलतासहित रचना करने वाले विरले ही कवि होते हैं। विहारीलाल में शृंगार रस की ही प्रधानता थी। इनके काव्य में मानों इसी की अनन्य साधना की गई है। इस दृष्टि से बिहारीलाल का स्थान उत्तम कहा जा सकता है। यह संभव है कि कवि ने अपनी उत्तरावस्था में कुछ शान्तरस-पूर्ण रचनाएं कीं—शायद ढलते दिनों में इनके स्वभाव में इस रस का समावेश हो गया हो। इनके भक्तियुक्त दोहे थोड़े ही से हैं किन्तु हैं वड़े ही उच्च कोटि के।

वर्णनात्मक कविता की विशेषता होती है कि वर्णन सर्वांगीन हो। इसके लिए लेखक की विवेचना शक्ति तीव्र होनी चाहिए। विहारी के काव्य में यह गुण वहुत अंशों में पाया जाता है। काव्य के विभिन्न अंगों का समावेश पाया जाता है। नखशिख, नायिकाभेद, अलंकार की योजना देखकर इनकी प्रखर विवेचना शक्ति का परिचय मिलता है। छंदों के लिए इन्होंने दोहा-सोरठा का चयन ही अपने काव्य के लिए उपयुक्त माना। उचित भी था कारण, यह इनके वस्तु के अनुकूल ही पड़ता था। मुक्तक शैली में इसी प्रकार के लघु पद ही सहायक सिद्ध होते हैं। अलंकार की विवेचना हो चुकी है। रीतिकाल का युग था भी काव्य के आभरण सज्जाका युग, अतः विहारी भी इसके अपवाद नहीं हो सके।

विहारी सतसई शृंगार रस प्रधान होने के कारण विशेषतः कोमला-वृत्तिपूर्ण है। रसिक हृदय विहारी के लिए परुषा का उपयोग करना कदाचित् उनके स्वभावानुकूल न होता। साथ ही उनकी काव्य-वस्तु में

No... 10141

ऐसा कोई प्रसंग भी नहीं है जिसमें इस वृत्ति का समावेश किया जाय। 'सतसई' की एक विलक्षणता ध्यान आकृष्ट कर ही लेती है कि उसमें काव्य का 'बिम्ब' अंग प्रचुर मात्रा में है। बिहारी ने बैठकर एक साथ किसी एक विशेष क्रम से अपने काव्य की रचना न की होगी। भले ही अब कुछ टीकाएँ ऐसी भी देखने में आई हैं कि जिनमें विविध विषयों का क्रमानुसार संकलन कर दिया गया है। मूल रचयिता ने इस प्रकार का क्रम न रखा होगा। कभी किसी समय किसी एक घटना या प्रसंग ने उन्हें प्रेरित किया होगा और उन्होंने उसे दोहों में चित्रित कर दिया। उनकी उक्ति केवल उसी प्रसंग एवं उस समय विशेष में ही सीमित नहीं रह जाती थी वरन् उसमें साधारणीकरण तत्त्व भी अनायास समाहित हो जाता था। उपर्युक्त स्नान का चित्र अपने रचनाकाल से लेकर अब तक अपने में नवीन है। "**बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाई। सौंह करैं भौंहनु हँसै, दैन कहैं नटि जाइ॥**"इस दोहे में संकेत है बातचीत करने के असंवरणीय आनन्द के लोभ का, जो प्रेमी और प्रेमिका के हृदय की चिरनवीन आकाँक्षा रही है और रहेगी—किन्तु दो हृदयों की यह मूक आकाँक्षा इस सजीवता के साथ बिहारी जैसे कुशल चितेरे को छोड़कर और किसी के द्वारा शायद ही इतनी सफलता के साथ व्यक्त अथवा मुखरित हो सकी है।

बिहारी सतसई में मुख्यतः शृंगार रस है। हास्य तथा शान्त रस की रचनाएँ भी कुछ संख्या में हैं। हास्य का प्रयोग अन्योक्तियों में विशेष रूप से किया गया है। हास्य के अंग उपहास तथा व्यंग का जितना पुष्ट रूप इनके दोहों में परिलक्षित होता है उतना अन्यत्र कहीं भी नहीं। 'मढ़ौ दमामोजात कहुँ,कहुँ चूहे को चाम' का तीक्ष्ण आघात चिरकाल तक उन्हीं पर होगा जो इस प्रकार का उपहासास्पद प्रयत्न करते रहेंगे। परिहास का कितना सुन्दर उदाहरण है—

चित पितुमारक जोगु गुनि, भयौ भयें सुत सोगु।
फिरि हुलस्यौ जिय जोइसी, समझै जारज जोगु॥

शांत रस की अभिव्यंजना में भी बिहारी के दोहे बड़े ही सफल रहे हैं। बल्कि कभी-कभी तो यह शंका होने लगती है कि बिहारी को भक्त की कोटि में रखना समीचीन होगा अथवा नहीं। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में इस प्रकार के क्षण न्यूनाधिक रूप में आते ही हैं जब कि उसे—क्षणिक ही सही—आत्म-वोध होता है। बिहारी के जीवन में भी ऐसे क्षणों का अभाव नहीं रहा होगा। उनके पास सबल अभिव्यंजना शक्ति थी, अतः वे अपनी इन अनुभूतियों को सफलतापूर्वक अभिव्यक्त कर सके। उनके ऐसे दोहे भावों में हमारे चिरपरिचित होते हुए भी अभिनव व्यंजना के कारण हमें रुच जाते हैं। केवलमात्र इनके ढलते दिनों की ही रचना कहना उचित नहीं प्रतीत होता है, कारण, जैसा पहले कहा जा चुका है कि बिहारी ने न तो किसी क्रम से रचना ही की थी, और, न बिहारी जैसे आजन्म रसिक हृदय व्यक्ति के स्वभावानुकूल ही यह हो सकता था।

हिन्दी साहित्य में 'बिहारी सतसई' का अपना एक विशेष स्थान है। रीतिकाल का युग, राजनीतिक दृष्टिकोण से भारत का शिथिलतापूर्ण वह काल था जब राजा-प्रजा दोनों ही उत्साह-विहीन हो किसी प्रकार से समय काट रहे थे। उस समय मन बहलाने के लिए इसी तरह की चुलबुलाती चोखी उक्तियाँ उन्हें क्षणिक आनन्द दे जाती थीं। इसीलिए रीतिकाल की रचनाओं में काव्य की, आत्मा का अभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं कि काव्य के अंग उपांगों का परिमार्जन अपूर्व हुआ है। इस दृष्टि से यह काल सर्वश्रेष्ठ माना जायगा। बिहारी की रचना अपेक्षाकृत लघु होती हुई भी यथेष्ट रूप में सर्वांगपूर्ण है। उस युग में बिहारी की-सी सफलता किसी को भी नहीं मिली। इनकी तुलना भी अपने युग के अन्य कवियों से नहीं की जा सकती है कारण इनकी रचना नितान्त भिन्न थी, दोहा और सोरठों में सतसई की रचना केवल इन्होंने की। अन्य जिन्होंने प्रयास किया वे इन तक पहुँच न सके।

बिहारी सतसई हिन्दी साहित्य मन्दिर का कारुकार्यपूर्ण वह वाता-

यन है जिसमें से भारती की एक अपूर्व श्रीसम्पन्न झाँकी मिलती है। मन उस झाँकी से अवाक् हो अभिभूत हो उठता है और तब अनायास ही हृदय उस अज्ञात कवि की उक्ति से सहमत हो जाता है।—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगें, घाव करें गंभीर॥

× × ×

प्रस्तुत संग्रह में कविवर बिहारीलाल के १५४ दोहे एकत्रित किए गए हैं। उनका क्रम 'सतसई' के अनुसार न रख वस्तु के अनुसार रखा गया है। अतः इस क्रम को 'सतसई' का मूलक्रम मानना उचित न होगा। सम्पूर्ण 'बिहारी सतसई' का अध्ययन विशेष अध्ययन के अन्तर्गत ही संभव है किन्तु साथ ही बिहारी की काव्य प्रतिभा से परिचित होना भी साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए आवश्यक है। इसीलिए बिहारी के कुछ ऐसे दोहे जो कवि की प्रतिभा के उपयुक्त परिचायक हैं; इस चयन में आ गए हैं। व्यंग, जीवन-दर्शन तथा कलाकार का सौंदर्यानुराग जिसकी सतत साधना वह मोहक प्रकृति की छत्रछाया में व्यंग और चोज से भरे उक्ति वैचित्र्य के साथ करता रहता है तथा जीवन की वास्तविकता से स्वयं परिचित होता हुआ संसार को भी कराता रहता है—यही, कवि की सच्ची साधना हुआ करती है। कविवर बिहारीलाल भी इसी कोटि के कवि थे।

सौंदर्यानुभूति

१

मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ ।
जा तन की झाँई परै, स्याम हरित दुति होइ ॥

नागरि=सुसंस्कृत चतुर नारी ।

झाँई=परछाहीं, आभा । विशेष अर्थ में (१) झाँकी, झलक, (२) ध्यान।

अलंकार—काव्यलिंग ।

उक्त दोहे के संबंध में प्रसिद्ध है कि कविवर विहारीलाल ने उसे अपनी कृति में मंगलाचरण के रूप में लिखा था ।

२

मोर-मुकुट की चंद्रिकनु, यौं राजत नंदनंद ।
मनु शशिशेखर की अकस, किय सेखर सत चन्द ॥

चंद्रिकनु=चंद्रिकाओं से, मोर पंख में चंद्राकार चमकीले चिह्न चंद्रक कहलाते हैं ।

शशिशेखर=शंकर, जिनके मस्तक पर चंद्रमा है ।

अक्स=(अरवी अक्स)=मुख्यार्थ तो 'उलटा' है, पर उर्दू और हिन्दी में यह वैर के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । इस प्रकार इस दोहे में कामदेव के अर्थ में प्रयोग किया गया है ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा ।

३

सखि, सोहति गोपाल कैं, उर गुंजनु की माल ।
बाहिर लसति मनौ पिए, दावानल की ज्वाल ॥

दावानल=दावाग्नि ।

अलंकार—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा ।

एक समय नंद, यशोदा तथा अन्य व्रज-जनों के साथ श्रीकृष्ण चंद्र जंगल में थे । आधी रात को चारों ओर आग लग गई, जिससे सब लोग बहुत घबरा उठे । तब श्रीकृष्णचन्द्र ने उस आग को पीकर सबका दुःख दूर किया । यहाँ 'दावानल' शब्द का शब्दार्थ तो वही वन की अग्नि है, पर गौणीसाध्यवसना लक्षणा-शक्ति से इसका अर्थ दावानल-सदृश विरहाग्नि है ।

४

हरि-छबि-जल जब तैं परे, तब तैं छिनु बिछुरैं न ।
भरत ढरत, बूड़त तरत, रहत घरी लौं नैन ॥

घरी=समय-प्रदर्शक जल-यंत्र की कटोरी ।

अलंकार—उपमा ।

समय-प्रदर्शक जल-यंत्र की कटोरी भी क्षण-मात्र जल से अलग नहीं रहती, क्योंकि यदि वह जल से कुछ देर अलग रहे तो समय-प्रदर्शन में उतनी देर का भेद पड़ जाय । अतः वह नाँद के जल में भरती, ढरती तथा डूबती-तैरती रहती है ।

५

केसरि कै सरि क्यों सकै, चम्पकु कितकु अनूपु ।
गात-रूपु लखि जातु, दुरि जातरूप कौ रूपु ॥

सरि=बराबरी ।
कितकु=कितना ।
जातरूप=सोना ।
अलंकार—चतुर्थ प्रतीप ।

६

मकराकृति गोपाल कैं, सोहत कुंडल कान ।
धर्‌यौ मनौ हिय-घर समरु, ड्यौढ़ी लसत निसान ॥

मकराकृति=मछली की आकृति ।

(मकराकृति होने के कारण कवि ने उसकी उत्प्रेक्षा कामदेव के निशान से की है ।)

धरचौ=पकड़ा, अधिकृत किया ।

हिय-घर=हृदय रूपी देश ।

समरु=स्मर (कामदेव) ।

डयौढ़ी=द्वार ।

निसान=निशान, ध्वजा ।

अलंकार—उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा ।

७

खौरि-पनिच भृकुटी-धनुषु, बधिकु समरु, तजि कानि ।
हनतु तरुन-मृग तिलक-सर, सुरक-भाल, भरि तानि ॥

खौरि=आड़ा तिलक ।

पनिच=प्रत्यंचा ।

कानि=मर्यादा, रुकावट ।

सुरक=नाक पर जो तिलक लगाया जाता है ।

भाल=भाले का फल ।

भरि तानि=भरपूर खींचकर ।

अलंकार—सांग रूपक ।

८

नीकौ लसतु लिलार पर, टीकौ जरितु जराइ ।
छबिहिं बढ़ावतु रवि मनौ, ससि-मंडल मैं आइ ॥

लिलार=ललाट ।

टीकौ=ललाट पर धारण करनेवाला आभूषण ।

जरितु जराइ=रत्न-जटित ।

अलंकार—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा ।

९

सोहत ओढ़ैं पीतु पटु, स्याम, सलौनैं गात।
मनौ नीलमनि-सैल पर, आतपु पर्‌यौ प्रभात ॥

आतपु=धूप,

अलंकार—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा।

१०

नाह गरजि नाहर-गरज, बोलु सुनायौ टेरि।
फँसी फौज मैं बंदि-बिच, हँसी सबनु तनु हेरि ॥

नाह=नाथ (स्वामी)।

नाहर=सिंह।

बोलु=शब्द।

टेरि=ललकार कर।

अलंकार—धर्मवाचक लुप्तोपमा।

प्रसंग—

रुक्मिणी-हरण का समय है। रुक्मिणी जी सेना के बीच भलीभाँति रक्षित हैं। इतने ही में श्रीकृष्णचन्द्र ने आकर सिंह की भाँति गरजकर अपनी सूचना दी। उसे देखकर रुक्मिणीजी ने सबकी ओर उपहास के भाव से देखा कि अब ये लोग किसी भाँति भी नहीं रोक सकते।

११

मन-मोहन सौं मोहु करि, तूँ घनस्यामु निहारि।
कुँजबिहारी सौं बिहरि, गिरधारी उर धारि ॥

अलंकार=परिकरांकुर।

१२

किती न गोकुल कुलवधू, किहिं न काहि सिख दीन।
कौनैं तजी न कुल-गली, ह्वै मुरली-सुर-लीन ॥

किती=कितनी।

किंहि न काहि=किसने किसको नहीं ।

सिख=शिक्षा ।

कुल-गली=कुल की रीति ।

अलंकार—काकुवक्रोक्ति ।

प्रकृति-पर्यवेक्षण

१३

चुवतु स्वेद मकरंद-कन, तरु तरु-तर बिरमाइ ।
आवतु दच्छिन देस तैं, थक्यौ बटोही बाइ ॥

बिरमाइ=विराम अथवा विश्राम करके ।

अलंकार—रूपक ।

मकरंद-कण चुआने से पवन का सुगंधि गुण, वृक्षों के नीचे ठहरने से शीतलत्व एवं थके हुए होने से मंद गति व्यंजित होती है ।

१४

रनित भृंग-घंटावली, झरित दान मधु-नीरु ।
मंद-मंद आवतु चल्यौ, कुंजरु कुंज-समीरु ॥

रनित=गूँजते हुए ।
दान=गज मद ।
मधुनीर=मकरन्द ।
कुंजर=हाथी ।

अलंकार—रूपक ।

१५

लगत सुभग सीतल किरन, निसि-सुख दिन अवगाहि ।
माह ससी-भ्रम सूर-त्यौं, रहति चकोरी चाहि ॥

अवगाहि=निमग्न होकर ।
माह=माघ मास ।
त्यौं=ओर (दिशा) ।

अलंकार—भ्रांति ।

१६

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन-तन माँह।
देखि दुपहरि जेठ की, छाहौं चाहति छाँह॥

सदन=घर रूपी शरीर।

(जेठ के दिनों में मध्याह्न के समय सूर्य ठीक सिर पर आ जाता है। अतः वृक्षों की छाया उनके घेरे के बाहर नहीं आती, और घरों की छाया भी छतों के नीचे ही रहती है, दीवालों के बाहर नहीं पड़ती।)

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा (जेठ की दुपहरी के कारण छाया अन्वेषण) छाहौं चाहति छाँह—अत्युक्ति।

१७

रुक्यौ सांकरैं कुंज-मग, करतु झाँझि, झकुरात।
मंद-मंद मारुत तुरँगु, खूँदतु आवतु जातु॥

रुक्यौ=अवरुद्ध हुआ।
सांकरै=संकीर्ण।
झांझि=झंझट करना (यहाँ भाव अड़ियलपन से है।)
झकुरातु=झकोरे लेता अर्थात् झूमता हुआ।
खूँदतु=कुचलता है, रौंदि डालता है।

अलंकार—रूपक।

१८

लपटी पुहुप-पराग-पट, सनी स्वेद मकरंद।
आवति, नारि, नवोढ़ लौं, सुखद वायु गति मंद॥

अलंकार—पूर्णोपमा, रूपक।

१९

पावस-घन-अँधियार महि, रह्यौ भेदु नहिं आनु।
रात द्यौस जान्यौ परतु, लखि चकई चकवानु॥

चकई-चकवानु=चकई चकवा को।

द्यौस=दिवस।

अलंकार—उन्मीलित।

चकई चकवा के लिए प्रसिद्ध है कि वे रात्रि में एकत्र नहीं रहते। किसी जलाशय का अंतर देकर एक इस पार और दूसरा उस पार रहता है। दिन में एकत्रित रहते है। जब वे पृथक् रहते हैं तो कराहने का-सा शब्द करते हैं, और जब साथ रहते हैं तो आनन्दसूचक शब्द करते हैं। इसका संस्कृत रूप चक्रवाक है जो चकोर से भिन्न है।

२०

अरुनसरोरुह-कर-चरन, दृग-खंजन, मुख-चंद।
समै आइ सुंदरि सरद, काहि न करति अनंद॥

अलंकार—रूपक।

कवि शरद ऋतु का वर्णन सुन्दरी स्त्री के रूपक के मिस करता है।

२१

नाहिंन ए पावक-प्रबल, लुवैं चलैं चहुँ पास।
मानहु बिरह बसंत कैं, ग्रीष्म-लेत उसास॥

लुवैं=लू, गर्म हवा की लपटें।

उसास=उच्छ्वास लेना।

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा।

२२

कहलाने एकत बसत, अहि, मयूर, मृग, बाघ।
जगतु तपोबन सौ कियौ, दीरघ-दाघ निदाघ॥

कहलाने=कातर होकर, व्याकुल होकर।

दीरघ दाघ=दीर्घ अर्थात् प्रचंड ताप वाली।

निदाघ=ग्रीष्म ऋतु।

अलंकार—उपमा।

वन के जीवों का ग्रीष्म के प्रचंड प्रभाव से कातर होकर परस्पर का वैर-भाव भूलकर एकत्र रहना इस दोहे में वर्णित है।

गर्मी के कारण मयूर और बाघ को इस बात का ध्यान ही नहीं रहा कि सर्प और मृग उनके आहार हैं, न उनमें उन पर आक्रमण करने की ही शक्ति जागृत है। ग्रीष्म की प्रचंडता इस प्रकार व्याप्त हो रही है कि सर्प तथा मृग को इस बात को सुधि नहीं रही कि सर्प एवं बाघ उनके भक्षक हैं, साथ ही उनमें भागने की भी शक्ति नहीं है।

२३

ज्यौं-ज्यौं बढ़ति बिभावरी, त्यौं-त्यौं बढ़त अनंत।
ओक-ओक सब लोक-सुख, कोक-सोक हेमंत॥

ओक=घर।

कोक=चकवा, चकई।

अलंकार—दीपक।

हेमंत ऋतु का वर्णन है।

२४

छकि रसाल-सौरभ सने, मधुर माधुरी गंध।
ठौर-ठौर झौंरत झँपत, भौंर-भौंर मधु अंध॥

रसाल-सौरभ=आम्र-मंजरी की सुगंध।

झौंरत झँपत=झुंड बाँधकर ढंक लेते हैं।

झौंर=समूह।

अलंकार—स्वभावोक्ति।

३

उक्ति वैचित्र्य

२५

लाज लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं ।
ए मुँहजोर तुरँग ज्यौं, ऐंचत हूँ चलि जांहि ॥

अलंकार—रूपक, तीसरी विभावना से परिपुष्ट पूर्णोपमा ।

२६

चितु दै देखि चकोर-त्यौं, तीजैं भजै न भूख ।
चिनगी चुगै अँगार की, चुगै कि चंद-मयूख ॥

तीजैं=तीसरी ।

मयूख=किरण ।

अलंकार—अनुप्रास, पदार्थ वृत्त, दृष्टांत अलंकार ।

चकोर—प्रसिद्ध है कि यह पक्षी रात्रि को विशेषतः शुक्लपक्ष में चन्द्रमा की ओर एकटक देखता है । इसकी एक विशेषता यह भी बताई जाती है कि ये अंगारे खाता है ।

२७

ब्रजबासिनु कौ उचित धनु, जो धन रुचित न कोइ ।
सुचित न आयौ; सुचितई, कहौ, कहाँ तैं होइ ॥

सुचित=सो हृदय में ।

सुचितई=पवित्रता, चित्त की स्वस्थ्यता ।

अलंकार—पर्यायोक्ति, यमक अलंकार ।

२८

अनियारे, दीरघ दृगनु, किती न तरुनि समान ।
वह चितवनि औरै कछू, जिहिं बस होत सजान ॥

अनियारे=कोरदार।

अलंकार—व्यतिरेक और भेदकातिशयोक्ति।

२६

पटु पाँखै, भखु काँकरै, सपर परेई संग।
सुखी, परेवा, पुहुमि मैं, एकै तुँही, विहंग।।

भखु=भक्ष्य।

सपर=पक्षयुत।

परेई=कबूतरी।

परेवा=पक्षी-कबूतर।

अलंकार—अन्योक्ति परिसंख्या।

३०

पिय-मन रुचिह्वै बौ कठिनु, तन-रुचि होहु सिंगार।
लाखु करौ, आँखि न बढ़ैं, बढ़ैं बढ़ाऐं बार।।

बार=बाल, केश।

अलंकार—अन्योक्ति।

३१

कहा भयौ, जौ बीछुरे, मो मनु तोमन साथ।
उड़ी जाउ कित हूँ, तऊ, गुड़ी उड़ाइक हाथ।।

गुड़ी=पतंग।

उड़ाइक=उड़ाने वाला।

अलंकार—दृष्टांत।

३२

सायक-सम मायक नयने, रँगे त्रिबिध रँग गात।
झखौ बिलखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात।।

सायक=(१) तीर (२) यहाँ संध्या के अर्थ में उपयुक्त प्रतीत होता है—संध्याकालीन लालिमा का भाव है।

मायक=माया करने वाले।

त्रिबिध रँग=तीन प्रकार के रंग अर्थात् श्वेत, श्याम एवं अरुण (नेत्रों में इन तीनों रंगों का वर्णन किया जाता है। सायंकाल में ये तीनों रंग आकाश में लक्षित होते हैं।)

झखौ=झख=मछली।

अलंकार—उपमा, यमक।

३३

लाल, तुम्हारे विरह की, अगनि अनूप, अपार।
सरसै बरसैं नीर हूँ, झर हूँ मिटै न झार॥

अगनि=अग्नि।

अनूप=अद्‌भुत, विलक्षण।

सरसैं=बढ़ती है।

झर=(१) झड़ी, (२) ग्रीष्म का प्रचंड ताप अथवा लू (बिहारी के दोहों में छः बार इस शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसमें पावक की लपट के अर्थ में हुआ है और दो बार मेह की झड़ी के अर्थ में।)

झार=ज्वाला।

अलंकार— विभावना। विशेषोक्ति (न झरहूँ मिटै झार।)

३४

मंगलु बिंदु सुरंगु, मुखु ससि, केसरि-आड़ गुरु।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन-जगत्॥

सुरंग=(१) सुन्दर रंग वाला, (२) यहाँ इसका अर्थ लाल है।

आड़=आड़ा तिलक।

नारी=(१) स्त्री, (२) राशि (वर्षा के निमित्त इस राशि का विचार

किया जाता है—मंगल, चंद्रमा और बृहस्पति एक पंक्ति में आ जायँ तो जल-योग होता है।)

मंगल ग्रह का रंग लाल और बृहस्पति का पीला माना जाता है। मुख का उपमान चन्द्र प्रसिद्ध ही है।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट सांग रूपक।

३५

रससिंगार-मंजनु किए, कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ बिना, खंजनु गंजनु, नैन॥

गंजन=तिरस्कार।

अलंकार—वृत्यनुप्रास (उपनागरिका वृत्ति) चतुर्थ प्रतीप।

३६

याकैं उर औरै कछू, लगी बिरह की लाइ।
पजरै नीर गुलाब कैं, पिय की बात बुझाइ॥

लाई=अग्नि।

पजरै=प्रज्वलित होती है।

बात=(१) वार्ता, (२) हवा।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में भेदकातिशयोक्ति तथा उत्तरार्द्ध में विभावना।

३७

कहा लेहुगे खेल पैं, तजौं अटपटी बात।
नेक हँसौहीं हैं भई, भौंहैं, सौंहैं खात॥

अलंकार—हेतु।

३८

लखि, लोने लोइननु कैं, कोइनु, होइ न आजु।
कौन गरीबु निवाजिबौ, कित तूठ्यौ रतिराजु॥

लोने=लावण्य युत।

लोयननि=लोचनों ।

कोइनु=कोयों (आँख की पुतली के दोनों ओर के श्वेत भाग को आँख के कोए कहते हैं।)

अलंकार—'लोइन' 'कोइनु', में वृत्यानुप्रास, काकु तथा पर्यायोक्ति ।

३९

जब-जब वै सुधि कीजियै, तब-तब सुधि जाँहि ।
आँखिनु आँखि लगी रहै, आँखै लागति नाँहि ॥

सुधि=स्मरण करना ।

सुधि=चेतनाएँ ।

वे=उनकी ।

आँखै लागति नाँहि=नींद नहीं आती ।

अलंकार—यमक, विरोधाभास ।

४०

कौन सुनै, कासौं कहौं, सुरति बिसारी नाह ।
बदाबदी ज्यौं लेत हैं, ए बदरा बदराह ॥

बदाबदी=कह-बदकर, खुल्लमखुल्ला ।

बदराह=कुमार्गगामी, दुष्ट ।

अलंकार—लाटानुप्रास ।
परिकर ('बदराह' साभिप्राय प्रयुक्त हुआ है।)

४१

बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैंन ।
हरिनी के नैनानु तैं, हरि, नीके ए नैन ॥

बर=ज़बर्दस्ती ।

अलंकार—यमक, काव्यलिंग ।

४२

अंग-अंग-नग जगमगत, दीपसिखा-सी देह।
दिया बढ़ाएँ हूँ रहै, बड़ो उज्यारौ गेह॥

बढ़ाएँ=बुझाने पर (दीपक बढ़ाना दीपक बुझाने के अर्थ में शिष्ट प्रयोग है।)

अलंकार—उपमा।

४३

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अंग।
दीपति देह दुहूनु मिलि, दिपति ताफता रंग॥

दीपति=दीप्ति।

ताफता=ताफ़ता रंग। ताफ़ता एक प्रकार का रेशमी कपड़ा जिसमें तान एक रंग का और बाना दूसरे रंग का होता है। दोनों रंगों के कारण उसमें दोनों रंगों की झलक मिलती है। इसे धूप-छाँह भी कहते हैं

अलंकार—वाचक लुप्तोपमा।

४४

पत्रा हीं तिथि पाइयै, वा घर कैं चहुँ पास।
नित प्रति पून्यौई रहै, आनन-ओप उजास॥

पत्रा=तिथि-पत्र।

पून्योई=पूर्णिमा ही।

ओप=चमक।

उजास=प्रकाश।

अलंकार—परिसंख्या।

४५

दुजै-सुधा-दीधिति-कला, वह लखि, दीठि लगाइ।
मनौ अकास-अगस्तिया, एकै कली लखाइ॥

सुधा दीधिति=चन्द्रमा ।

दीठि लगाई=दृष्टि लगाकर ।

अगस्तिया=(अगस्तिका) अगस्त नामक वृक्ष ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, पर्यायोक्ति ।

४६

सतर भौंह, रूखे बचन, करति कठिनु मनु नीठि ।
कहा करौं, ह्वै जाति हरि, हेरि हँसौंहीं डीठि ॥

सतर=तर्जन युत ।

नीठि=बड़ी कठिनता से

अलंकार—तृतीय विभावना ।

४७

कहत सबै कवि कमल से, सो मत नैन पखानु ।
नतरुक कत इन बिय लगत, उपजतु बिरह-कृसानु ॥

नतरुक=अन्यथा ।

बिय=दूसरे ।

कत=क्यों ।

कृसानु=अग्नि ।

अलंकार—हेतु अपह्नुति ।

४८

मरनु भलौ बरुबिरह तैं, यह निहचय करि जोइ ।
मरन मिटै दुखु एक कौ, बिरह दहूँ दखु होइ ॥

अलंकार—लेशगर्भित काव्यलिंग ।

४९

कहा लड़ैते दृग करै, परे लाल बेहाल ।
कहुँ मुरली, कहुँ पीत-पटु, कहूँ मुकटु, बनमाल ॥

लड़ैते=लाड़ले ।

बेहाल=विह्वल ।

अलंकार—व्याजस्तुति ।

५०

छ्वै छिगुनी पहुँचौ गिलत, अति दीनता दिखाइ ।
बलि-बावन कौ ब्यौंतु सुनि, को, बलि, तुम्हैं पत्याइ ॥

छ्वै=छूकर ।

छिगुनी=कनिष्ठा उंगली ।

गिलत=निगल लेते हो ।

बलि-बावन=राजा बलि तथा वामन-भगवान् ।

ब्यौंतु=वृत्तान्त ।

पत्याइ=विश्वास करे ।

अलंकार—लोकोक्ति ।

५१

लोभ लगे हरि-रूप के, करी साँटि जुरि, जाइ ।
हौं इन बेची बीच हीं, लोइन बड़ी बलाइ ॥

रूप=(१) सौंदर्य (२) रुपया ।

सांटि=(१) गुप्त मंत्रणा (२) क्रय-विक्रय की बातचीत ।

जुरि=(१) मिलकर (२) साक्षात्कर ।

बीच हीं=बिना बताए ।

बलाई=विपत्ति ।

अलंकार—रूपक ।

५२

हौं हीं बौरी बिरह रस, कै बौरौ सबु गाउँ ।
कहा जानि ए कहत हैं, ससिहिं सीतकर-नाउँ ॥

सीतकर=शीतल किरणों वाला।

अलंकार—संदेह विरहात्युक्ति।

५३

नीचीयै नीची निपट, दीठि कुही लौं दौरि।
उठि ऊँचै, नीचौ दयौ, मनु कुलिंगु झपि, झौरि॥

कुही=एक प्रकार का छोटा बाज़।

कुलंग=एक प्रकार की छोटी चिड़िया।

झपि=ढंककर।

झौरि=झकझोरकर।

नीचौ दयौ=पक्षियों का नीचे की ओर झोंक से उतरने को नीचा देना कहते हैं।

विशेष—कुही जब किसी चिड़िया का शिकार करता है, तो पहले कुछ देर तक उसके नीचे-नीचे उड़ा करता है, और फिर एकाएक ऊपर उठकर उस पर टूट पड़ता और उसको ढंक लेता है। फिर उसे झकझोरकर, जिसमें वह वेदम हो जाय, नीचे की ओर झोंक से उतरता है।

कुही के इसी स्वभाव को लेकर बिहारी नायिका की नीची निगाह को उपमान बनाते हैं जो कवि के प्रकृति निरीक्षण प्रतिभा का द्योतक है।

(नायिका की दृष्टि नायक की ओर नीची-ही-नीची आकर एकाएक ऊपर उठकर नीची हो गई।)—इसी भाव को उक्त दोहे में व्यक्त किया है।

अलंकार—पूर्णोपमा।

५४

संगति-दोष लगै सबनु, कहे ति साँचे बैन।
कुटिल-बंक-भ्रुव-संग भए, कुटिल, बंक-गति नैन॥

बंक=(वक्र) टेढ़ी आकृति वाली।

कुटिल=टेढ़े स्वभाव वाली, छली, निर्दय।

अलंकार—उल्लास, अर्थान्तरन्यास ।

५५

नाचि अचानक ही उठे, बिनु पावस बन-मोर ।
जानति हौं, नंदित करी, यह दिसि नंदकिसोर ॥

पावस=वर्षा ।

नंदित=आनंदित किया ।

अलंकार—भ्रम प्रमाणान्तर्गत अनुमान अलंकार ।

५६

अधर धरत हरि कैं, परत, ओठ-डीठि-पट-ज्योति ।
हरित बाँस की बाँसुरी, इंद्रधनुष-रंग होति ॥

डीठि=दृष्टि ।

अलंकार—उपमा, तद्गुण ।

५७

नैना नैंक न मानहीं, कितौ कह्यौ समुझाइ ।
तनु मनु हारैं हूँ हँसैं, तिन सौं कहा बसाइ ॥

बसाइ=वस चले ।

अलंकार—विशेषोक्ति ।

५८

बाल, कहा लाली भई, लोइन-कोइनु माँह ।
लाल, तुम्हारे दृगनु की, परी दृगनु में छाँह ॥

अलंकार—लोइनु-कोइनु=छेकानुप्रास गूढ़ोत्तर ।

५९

चितुवितु बचतु न हरत हठि, लालन-दृग बरजोर ।
सावधान के बटपरा, ए जागत के चोर ॥

चितवितु = चित्त रूपी धन ।

बरजोर = बलवान् ।

बटपरा = बटमार ।

अलंकार— विभावना ।

६०

विकसित-नवमल्ली-कुसुम, निकसित परिमल पाइ ।
परसि पजारति बिरहि-हिय, बरसि रहे की बाइ ॥

पजारति = जलाती है ।

अलंकार—पाँचवी विभावना ।

६१

सरस सुमिल चित-तुरँग की, करि करि अमित उठान ।
गोइ निबाहैं जातियै, खेलि प्रेम चौगान ॥

सरस = रसयुक्त । (यहाँ पुष्ट के अर्थ में)

सुमिल = अनुरागी । (यहाँ सवार के अनुकूल चलने वाले के अर्थ में)

उठान = धावा, दौड़ ।

गोय निबाहे = (१) छिपाकर निर्वाह करने से, (२) गोई (गेंद) को निर्दिष्ट सीमा तक वहन करने से ।

चौगान = गेंद का एक प्रकार का खेल जो अंग्रेज़ी खेल पोलो के सदृश घोड़े पर चढ़कर खेला जाता है ।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट रूपक ।

६२

रहैं निगोड़े नैन डिगि, गहैं न चेत-अचेत ।
हौं कसु कै रिस के करौं, ये निसुके हँसि देत ॥

निगोड़े = पादहीन, पंगु (स्त्रियाँ क्रोध में आकर इस शब्द का प्रयोग मूर्ख इत्यादि के अर्थ में करती हैं ।)

रिस=क्रोध।

निसुके=यह भी उपर्युक्त क्रोध के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

अलंकार—विभावना।

६३

इन दुखिया अँखियानु कौं, सुखु सिरज्यौई नाँहि।
देखैं बनै न देखतै, अनदेखैं अकुलाँहि॥

सिरज्योई=बनाया ही।

अलंकार—काव्यलिंग, विशेषोक्ति।

६४

बतरस-लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं भौंहनु हँसै, दैन कहैं नटि जाइ॥

बतरस=बातचीत करने का आनन्द।

अलंकार—कारक दीपक।

६५

नेहु न, नैननु कौं कछू, उपजी बड़ी बलाइ।
नीर-भरे नितप्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाइ॥

अलंकार—विशेषोक्ति से पुष्ट हेत्वपह्नुति।

६६

चितवनि रूखे दृगनु की, हाँसी-बिनु मुसकानि।
मानु जनायौ मानिनी, जानि लियौ पिय, जानि॥

हाँसी बिनु=बिना किसी हँसी की बात के।

अलंकार—हेतु और अनुमान संकर 'जानि' 'जानि' में लाटानुप्रास।

६७

कोरि जतन कीजै तऊ, नागर-नेहु दुरै न।
कहैं देत चितु चीकुनौ, नई रुखाई नैन॥

कोरी=करोड़ों ।

चीकुना=चिकनापन (स्निग्ध, अनुरक्त) ।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में तीसरी विभावना, उत्तरार्द्ध में पाँचवी विभावना ।

६८

कहत सबै, बेंदी दियैं, आँकु दसगुनौ होतु ।
तिय-लिलार बेंदी दियैं, अगिनितु बढ़तु उदोतु ॥

आँकु=अंक (गिनती की संख्या) (शून्य)

लिलार=ललाट ।

उदोतु=उद्योत, (१) प्रकाश, शोभा, (२) अंक का अभिप्राय-मूल्य ।

अलंकार—व्यतिरेक ।

६९

लिखन बैठि जाकी सबी, गहि-गहि गरब गरूर ।
भए न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ॥

सबी—(फ़ारसी शबीह)=यथार्थ चित्र ।

गरब गरूर=गर्व, घमंड ।

कूर=(१) निष्ठुर, निर्दय, (२) विदलित (कुट्ट धातु से) वुद्धिवाला अर्थात् वेवकूफ़ मूर्ख—इस दोहे में (२) का भाव उचित है ।

अलंकार—वक्रोक्ति तथा विशेषोक्ति ।

७०

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति ।
परति गाँठि दुरजन-हियै; दई, नई यह रीति ॥

उरझत=आपस में गुथते हैं, अर्थात् मिलते हैं ।

टूटत कुटुम=कुल से टूट जाते हैं ।

जुरत=प्रेम से संवद्ध होना ।

गाँठि=ईर्षा, द्वेष ।

दई=दव, हे ईश्वर !

नई=अनौखी ।

अलंकार—असंगति ।

जो वस्तु उलझती है वही टूटती है, जो टूटती है वही जुड़ती है, फिर गाँठ भी उसी में पड़ती है, किन्तु प्रीति व्यवहार में विलक्षणता यह है कि उलझती और वस्तु है, टूटती और है, जुड़ती और है एवं गाँठ और में पड़ती है—

यहाँ अद्‌भुत रस है, शृङ्गार उसका सहायक है ।

७१

भूषन-भारु सँभारिहै, क्यौं इहिं तन सुकुमार ।
सूधे पाइ न धर परैं, सोभा ही कैं भार ॥

धर=धरा, पृथ्वी ।

अलंकार—काकु वक्रोक्ति ।

७२

झूठे जानि न संग्रहे मन मुँह-निकसे बैन ।
याही तैं मानहु कियें, बातनु कौं बिधि नैन ॥

झूठे=मिथ्या ।

संग्रह=ग्रहण किया (आदर-सम्मान देना) ।

अलंकार=सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा ।

७३

अजौं तर्‌यौना हीं रह्यौ, श्रुति सेवत इक-रंग ।
नाक-बास बेसर लह्यौ, बसि मुकुतनु कें संग ॥

अजौं=आज तक या अब तक भी ।

तर्‌यौना=कर्णभरण (तरकी) । (**तर्‌यो ना**=न तरा अर्थात् अधोवर्ती ।)

श्रुति=(१) वेद की श्रुति, (२) कान।
इक रंग=अविच्छिन्न रूप से, एक रीति से, एक समान।
नाक बास=(१) स्वर्ग-निवास, (२) नासिका का निवास।
बेसरि=(१) नासिका का भूषण विशेष, (२) महा अधम प्राणी वेसर.।
मुकुतन=(१) मुक्ता, मोती, (२) जीवन-मुक्त व्यक्ति।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट किया हुआ मुद्रालंकार।

७४

बहके, सब जिय की कहत, ठौर-कुठौरु लखै न।
छिन औरै, छिन और से, ए छबि-छाके नैन॥

बहके=अपने वश से बाहर।
छबि-छाके=छवि रूपी मदिरा से छके हुए।

अलंकार—भेदकातिशयोक्ति।

व्यंगोक्तियाँ

७५

सीतलताऽरु सुवास कौ, घटै न महिमा-मुरु।
पीनस वारैं जौ तज्यौ, सोरा जानि कपूरु॥

रु= (अरु) =और।

मूरु= (मूल) =जड़, मूलधन।

पीनस वारैं=पीनस रोग वाला, जिसे सुगंध का ज्ञान ही नहीं होता।

सोरा= (शोरा) मिट्टी में से निकाला हुआ एक खारा पदार्थ।

अलंकार—अन्योक्ति

५

जीवन-दर्शन

७६

संगति सुमति न पावहीं, परे कुमति कैं धंध ।
राखौ मेलि कपूर में, हींग न होइ सुगंध ॥

धंध=झंझट ।

अलंकार—दृष्टान्त ।

७७

सबैं हँसत करतार दै, नागरता कैं नावँ ।
गयो गरबु गुन कौ सरबु, गएँ गँवारैं गाँव ॥

करतार=ताली बजाना ।

नागरता=चातुरी, गुणसम्पन्नता ।

अलंकार—हेतु (लेशालंकार) ।

७८

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर ।
को घटि ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥

वृषभानुजा=(१) वृषभानु की पुत्री=राधा, (२) वृषभ+अनुजा=बैल की बहन=गाय ।

हलधर=(१) बलदेव, (२) बैल ।

बीर=भाई ।

अलंकार—श्लेष वक्रोक्ति ।

७९

बहकि बड़ाई आपनी, कत राँचत मति-भूल।
बिनु मधु मधुकर कैं हियैं, गड़ै न, गुड़हर, फूल॥

बहकि=उमंग में आकर अप्रासंगिक कार्य करना।
रांचत=रंजित होना।
मति-भूल=बुद्धि का भ्रम।
गड़ै न=प्रभाव नहीं डालता।

अलंकार—अन्योक्ति।

८०

कैसें छोटे नरनु तैं, सरत बड़नु के काम।
मढ़्यो दमामौ जातु क्यों, कहि चूहे कैं चाम॥

सरत=पूरा होना, सम्पादित होना।
दमामौ=नगाड़ा।
कहि=कहो तो सही

अलंकार—दृष्टान्त, वक्रोक्ति गर्भित अर्थान्तरन्यास।

८१

घरु-घरु डोलत दीन ह्वै, जनु-जनु जाचतु जाइ।
दियैं लोभ-चसमा चखनु, लघु पुनि बड़ौ लखाइ॥

चसमा=चश्मा (ऐनक)।
लघु पुनि बड़ौ लखाइ=कुछ ऐनक ऐसे होते हैं जिनके लगा लेने से छोटी वस्तु बड़ी दिखलाई देने लगती है।

अलंकार—रूपक।

८२

आवत जात न जानियतु, तेजहिं तजि सियरानु।
घरहँ जँवाइ लौं घट्यौ, खरौ पूस-दिन-मानु॥

सियरानु=ठंडा पड़ गया ।

घर जँवाई=घर जमाई ।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट पूर्णोपमा ।

८३

बड़े न हूजै गुननु बिनु, बिरद-बड़ाई पाइ ।
कहत धतूरे सौं कनकु, गहनौ गढ़्यो न जाइ ॥

कनक=(१) सोना, (२) धतूरा ।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास ।

८४

कनकु कनक तैं सौगुनी, मादकता अधिकाइ ।
उहिं खाएँ बौराइ हैं, इहिं पाए बौराइ ॥

अलंकार—व्यतिरेक, काव्यलिंग ।

८५

ओछे बड़े न ह्वै सकैं, लगौ सतर ह्वै गैन ।
दीरघ होहिं न नैंक हूँ, फारि निहारैं नैन ॥

सतर=तनकर, ऐंठकर ।

गैन=गगन, आकाश ।

अलंकार—दृष्टान्त ।

८६

जाकैं एकाएक हूँ, जग ब्यौसाइ न कोइ ।
सो निदाघ फूलै-फरै, आकु डहडहौ होइ ॥

एकाएक हूँ=एक भी ।

ब्यौसाइ=व्यवसाय ।

निदाघ=ग्रीष्म ऋतु ।

डहडहौ—लहलहा, पल्लवित ।

अलंकार—अन्योक्ति ।

८७

कर लै, सूँघि सराहि हूँ, रहे सबै गहि मौनु ।
गंधी अंध, गुलाब कौ, गवईं गाहकु कौन ॥

अलंकार—अन्योक्ति ।

८८

मोरचन्द्रिका, स्याम-सिर, चढ़ि कत करति गुमानु ।
लखिबो पाइनु पर लुठति, सुनियतु राधा मानु ॥

गुमानु=गर्व, अभिमान ।

लखिबो=देखी जायगी ।

लुठति=लोटती ।

अलंकार—अन्योक्ति ।

८९

गोधन, तूँ हरष्यो हियैं, घरियक लेहि पुजाइ ।
समुझि परैगी सीस पर, परत पसुनु के पाइ ॥

गोधन=गोवर्द्धन ।

घरियक=घरी+एक=घड़ीभर ।

पुजाइ=सम्मानित करवा लेना ।

अलंकार—अन्योक्ति ।

कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा के दिन किसान लोग, अपने-अपने द्वारों पर, गोबर से गोवर्द्धन की प्रतिमा बनाकर बड़े समारोह से उसकी पूजा करते और उत्सव मनाते हैं। पूजा के पश्चात् अपनी गाय तथा बैलों को उसी प्रतिमा पर खड़ा करके पूजते हैं, जिससे वह प्रतिमा रौंद उठती है।

६०

चल्यौ जाइ ह्याँ को करै, हाथिनु के व्यापार।
नहिं जानतु इहिं पुर बसैं, धोबी, ओड़, कुँभार॥

ओड़=घरों की ईंट, चूना इत्यादि गदहों पर ढोने वाले लोग।

अलंकार—अन्योक्ति।

६१

मूड़ चढ़ाऐंऊ रहै, पर्यौ पीठि कच-भारु।
रहै गरैं परि, राखिबौ, तऊ हियैं पर हारु॥

मूड़ चढ़ाऐंऊ=सिर पर धारण करना, अर्थात् बहुत सम्मान देना।

पर्यौ पीठि=पीठ पर पड़े रहना अर्थात् आदररहित रहना।

गरैं परि=गले पड़ना अर्थात् जबर्दस्ती रहना।

हियैं पर=हृदय पर धारण करना अर्थात् सम्मान करना।

अलंकार—अन्योक्ति।

६२

वे न इहाँ नागर, बढ़ी, जिन आदर तो आब।
फूल्यौ अनफूल्यो भयौ, गवँइ-गाँव, गुलाब॥

आब=फारसी शब्द है। इसका मुख्य अर्थ जल है। पर यह चमक, ओप आदि के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।

गवँइ-गाँव=गँवारों का गाँव।

अलंकार—अन्योक्ति।

६३

अरे, परेखौ को करै, तुँही विलोकि बिचारि।
किहिं नर, किहिं सर राखियै, खरैं बढ़ैं परिपारि॥

परेखो=परीक्षा, जाँच।

खरैं=बहुत।

परिपारि=मर्यादा ।

अलंकार—काकु वक्रोक्ति, दीपकालंकार ।

बुरौ बुराई जौ तजै, तौ चितु खरौ डरातु ।
ज्यौं निकलंकु मयंकु लखि, गनैं लोग उत्पातु ॥

खरौ=(१) बहुत, (२) सीधा ।
निकलंकु मयंकु=निष्कलंक चन्द्रमा ।

(ज्योतिष के अनुसार कहते हैं कि जब संसार में कोई बड़ा उपद्रव होने को होता है तो चन्द्रमा निष्कलंक दिखलाई पड़ने लगता है ।)

अलंकार—दृष्टान्त ।

६५

को छूट्यौ इहिं जाल परि; कत, कुरंग, अकुलात ।
ज्यौं-ज्यौं सुरझि भज्यो चहत, त्यौं-त्यौं उरझत जात ॥

कत=क्यों ।

अलंकार—अन्योक्ति ।

६६

चटक न छाँड़तु घटत हूँ, सज्जनु-नेहु गँभीरु ।
फीकौ परै न, बरु फटै, रँग्यो चोल रंग चीरु ॥

चटक=चटकीलापन ।
चोल=मँजीठ—(जिसके रंग में कपड़ा रंगते हैं) ।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास, प्रतिवस्तूपमा ।

६७

भावरि-अनभावरि-भरे, करौ कोरि बकवादु ।
अपनी-अपनी भाँति कौ, छुटै न सहजु सवादु ॥

भावरी-अनभावरी=पसन्द हो अथवा न पसन्द हो।

सवादु=स्वादु (रुचि)।

अलंकार—(विशेषोक्ति, आत्मतुष्टि प्रमाण)।

९८

नर की अरु नल-नीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचौ होइ॥

नल-नीर=फुहारे के नल का पानी।

जोइ=देखो (समझो)।

अलंकार—दृष्टान्त।

९९

बढ़त बढ़त संपति-सलिलु, मन-सरोजु बढ़ जाइ।
घटत-घटत सु न फिर घटै, बरु समूल कुम्हलाइ॥

अलंकार—रूपक।

१००

कोरि जतन कोऊ करे, परे न प्रकृतिहिं बीचु।
नल-बल जलु ऊँचैं चढ़ै, अन्त नीच कौ नीचु॥

बीचु=अन्तर।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास (दृष्टान्त)।

१०१

न ए बिससियहि लखि नए, दुरजन दुसह-सुभाइ।
आँटै परि प्राननु हरत, काँटै लौ लगि पाइ॥

बिससियहि=विश्वास किए जायँ।

नए=नम्र हुए।

दुसह सुभाइ=दुःसह स्वभाव वाले।

ग्रांटै=(१) दुःख, (२) दाँव।

ग्रलंकार—पूर्णोपमा।

१०२

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।
अली कली ही सौं बँध्यौ, आगे कौन हवाल॥

विकास=प्रफुल्ल ग्रथवा प्रस्फुटन।

हवाल=दशा।

ग्रलंकार—ग्रन्योक्ति।

प्रसिद्ध है कि बिहारीलाल जयशाह के दरबार में पहुँचे तब महाराज ग्रपनी नई रानी के महल में थे। उन दिनों वे राज-काज छोड़कर महल में ही रहते थे। राज्य-कार्य में बड़ी ग्रसुविधा होती थी। बिहारीलाल ने उपर्युक्त दोहा लिखकर महाराज की सेवा में भेजा। इसे पढ़ते के साथ ही वे महल से बाहर चले ग्राए ग्रौर राज्य-कार्य में लग गए। उन्होंने बिहारीलाल के ऊपर प्रसन्न होकर ग्रपने यहाँ ग्राश्रय दिया तथा उसी प्रकार सरस दोहे बनाने की ग्राज्ञा दी। बिहारी ने तब 'बिहारी सतसई' की रचना की।

१०३

नहिं पावसु, ऋतुराज यह; तजि, तरवर, चित-भूल।
अपतु भए बिनु पाइहै, क्यौं नव दल, फल, फूल॥

ग्रपतु=(१) पत्रहीन, (२) बेइज्जत।

ग्रलंकार—ग्रन्योक्ति

१०४

इक भीजें, चहलें परैं, बूड़ैं, बहैं हजार।
किते न औगुन जग करैं, बै नै चढ़ती बार॥

चहलें=कीचड़, दलदल।

बै = (वय) = वयस, उम्र।

नै = नदी।

अलंकार—काकु वक्रोक्ति और दीपक।

१०५

मीत, न नीति गलीतु ह्वै, जौ धरियै धनु जोरि।
खाएँ खरचैं जौ जुरे, तौ जोरियै करोरि॥

गलीतु = दुर्दशा।

अलंकार—संभावना।

१०६

नीच हियैं हुलसे रहैं, गहे गेंद के पोत।
ज्यों-ज्यों माथैं मारियत, त्यौं-त्यौं ऊँचे होत॥

पोत = स्वभाव (प्रकृति), समान, सदृश।

अलंकार—दृष्टान्त (कोई-कोई आर्थी उपमा कहते हैं)।

१०७

या भव पारावार कौं, उलँघि पार को जाइ।
तिय-छबि-छायाग्राहिनी, ग्रहै बीच ही आइ॥

छायाग्राहिनी = सिंहिका नामक राक्षसी राहु की माता थी और लंका के निकट समुद्र में रहती थी। उसकी विशेषता थी कि जिस उड़ते हुए पक्षी की परछाँही जल पर पड़ती थी उसे उसी परछाँही के द्वारा उसे आकर्षित कर खा लेती थी। उसने हनुमान के पथ में भी इसी प्रकार की बाधा डालने का प्रयास किया था; किन्तु असफल रही।

अलंकार—रूपक

१०८

दिन दस आदरु पाइ कै, करि लै आपु बखानु ।
जौ लगि काग ! सराध-पखु, तौ लगि तौ सनमानु ॥

सराध-पखु=श्राद्ध-पक्ष (पितृ-पक्ष) ।

अलंकार—अन्योक्ति ।

१०९

मरतु प्यास पिंजरा-पर्‌यो, सुआ समै कैं फेर ।
आदरु दै दै बोलियतु, बाइसु बलि की बेर ॥

बाइसु=वायस (कौवा) ।

बलि=पितृ-श्राद्ध अथवा बलि के समय कौवा के निमित्त निकाले हुए अंश को कौवे को बुला-बुलाकर खिलाया जाता है ।

अलंकार—अन्योक्ति ।

११०

इहीं आस अटक्यौ रहतु, अलि गुलाब कैं मूल ।
ह्वै हैं फेरि बसंत ऋतु, इन डारनु वे फूल ॥

अलंकार—अन्योक्ति ।

१११

जौ चाहत, चटक न घटै, मैलो होइ न मित्त ।
रज राजसु न छुआइए, नेह-चीकनो चित्त ॥

चटक=चटकीलापन, चमक-दमक, स्फूर्ति ।

रज=धूल ।

राजसु=रजोगुण अर्थात् गर्व, क्रोध इत्यादि ।

अलंकार—रूपक ।

११२

समै-समै सुन्दर सबै, रूप-कुरूप न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ॥

अलंकार—स्वभावोक्ति।

११३

को कहि सकै बड़ेन सौं, लखैं बड़ीयौ भूल।
दीने दई गुलाब की, इन डारनु वे फूल॥

दई=दैव।

अलंकार—अन्योक्ति।

११४

जो सिरधरि महिमा मही, लहियति राजा राइ।
प्रगटत जड़ता अपनियै, सु मुकटु पहिरत पाइ॥

जड़ता=मूर्खता।
अपनियै=अपनी ही।

अलंकार—अन्योक्ति।

११५

कहै यहै श्रुति सुम्रत्यौ, यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसकहीं, पातक, राजा, रोग॥

सुम्रत्यो=स्मृति भी।
सयाने=सज्ञान ज्ञानी।
निसकहीं=शक्तिहीन ही को, निर्बल ही को।
पातक=पाप।

अलंकार—प्रमाण (शब्द प्रमाण)।

११६

बसै बुराई जासु तन, ताही कौ सनमानु।
भलौ-भलौ कहि छोड़िये, खोटैं ग्रह-जपु-दान ।।

अलंकार—दृष्टान्त ।

११७

गुनी-गुनी सबकैं कहैं, निगुनी गुनी न होतु।
सुन्यौ कहूँ तरु अरक तैं, अरक समान उदोतु ।।

निगुनी=गुणविहीन ।

अरक=अर्क=(१) मदार, अकौवा, (२) सूर्य ।

उदोतु=प्रकाश ।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास (वक्रोक्ति से पुष्ट) ।

११८

दुसह दुराज प्रजानु कौं, क्यौं न बढ़ै दुःख-दंदु।
अधिक-अँधेरौ जग करत, मिलि मावस रवि-चंदु ।।

दुराज=द्विराज अर्थात् दो शासकों के शासन में ।

दुःख-दंदु=दुःख-द्वन्द ।

मावस=अमावस्या ।

अलंकार—दृष्टान्त ।

११९

तंत्री-नाद, कवित्त-रस, सरस राग, रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े, तरे, जे बूड़े सब अंग ।।

तंत्री-नाद=वीणा व सितार आदि का मधुर स्वर ।

अनबूड़े=जो डूबे नहीं ।

बूड़े=डूब गए ।

अलंकार—विरोधाभास ।

१२०

स्वारथ, सुकृतनु, श्रमु बृथा; देखि बिहंग, बिचारि।
बाज, पराऐं पानि परि, तूँ पच्छीनु न मारि॥

स्वारथ=स्वार्थ, अपना लाभ।

सुकृत=पुण्य।

बिहंग=(१) पक्षी, (२) आकाशगामी (यहाँ दूरदर्शी के भी भाव में प्रयुक्त हुआ है), स्वच्छन्द-विहारी।

पच्छीनु=(१) पक्षियों को, (२) अपने पक्षवर्तियों अर्थात् स्वजातियों को।

अलंकार—अन्योक्ति।

१२१

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार।
अब अलि, रही गुलाब में, अपत, कँटीली डार॥

बहार=वसंत ऋतु।

अपत=पत्ररहित।

अलंकार—अन्योक्ति।

१२२

गिरि तैं ऊँचे रसिक-मन, बूड़े जहाँ हजारु।
वहै सदा पसु नरनु, कौं प्रेम-पयोधि पगारु॥

रसिक=रसास्वादन करने वाला।

पसु नरनु=अरसिक जन।

पगारु=पानी का वह गड़हा जिसे पैदल ही पार किया जा सकता है।

अलंकार—रूपक।

१२३

अनी बड़ी उमड़ी लखैं, असिबाहक, भट-भूप।
मंगलु करि मान्यौ हियैं, भो मुँहु मंगलु रूप॥

असिवाहक=तलवार धारण करने वाला।

मंगल=(१) शुभ, (२) तारा—जिसका रंग लाल माना जाता है।

अलंकार—विभावना।

प्रसंग—जयशाह की शूरता का वर्णन।

६

आत्म-बोध

१२४

नित प्रति एकत हीं रहत, वैस-बरन-मन एक।
चहियत जुगलकिसोर लखि, लोचन जुगुल अनेक॥

बैस-बरन-मन-एक=अवस्था, वर्ण (आभा) तथा मन से (दोनों एक हो रहे हैं)।

यह समस्त पद अगले शब्द जुगलकिसोर का विशेषण है।

जुगलकिसोर=श्री राधिका तथा कृष्णचन्द्र।

लोचन जुगुल=लोचनों के जोड़े।

अलंकार—सम।

१२५

तौ, बलियै, भलियै बनी, नागर नंदकिसोर।
जौ तुम नीकैं कै लख्यौ, मो करनी की ओर॥

बलियै=बलिहारी जाना, बलि जाऊँ।

भलियै बनी=भली ही।

नीकैं कै=अच्छी तरह से अर्थात् जाँच और न्याय की दृष्टि से।

अलंकार—वक्रोक्ति, संभावना अलंकार।

१२६

सीस-मुकुट, कटि-काछनी, कर-मुरली, उर-माल।
इहिं बानक मो मन सदा, बसौ, बिहारी-लाल॥

बानक=बनाव, साज, वेष।

अलंकार—स्वभावोक्ति ।

उक्त दोहे के पूर्वार्द्ध में चार समस्त पदों में बहुव्रीहि समास हैं । ये 'बानक' के विशेषण हैं । कृष्ण का गोप वेष चित्रित किया है ।

१२७

बंधु भए का दीन के, को तार्यौ, रघुराइ ।
तूठे फितूठे रत हौ, झूठे बिरद कहाइ ॥*

तूठे=तुष्ट अर्थात् प्रसन्न होकर ।

अलंकार—काकु वक्रोक्ति । तूठे-तूठे से वीप्सा ।

१२८

थोरैं ही गुन रीझते, बिसराई वह बानि ।
तुमहूँ, कान्ह, मनौ भए, आजकाल्हि के दानि ॥

बानि =अभ्यास, प्रकृति ।

आजकाल्हि के दानि=(कृपण के अर्थ में) ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा ।

१२९

कब कौ टेरतु दीन रट, होत न स्याम सहाइ ।
तुमहूँ लागी जगत-गुरु, जग-नाइक, जग-बाइ ॥

जग-बाइ=संसार की हवा ।

अलंकार—लोकोक्ति और गम्योत्प्रेक्षा ।

१३०.

कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार ।
मो संपति जदुपति सदा, विपति-बिदारनहार ॥

कोरिक=करोड़ के अनुमान ।

* तूठे तूठे फिरत हौ, अधिक शुद्ध प्रतीत होता है ।

संग्रहौ=बटोरो, जोड़ो।

अलंकार—हेतु (द्वितीय)।

१३१

जम करि-मुँह-तरहरि पर्यौ, इहिं धरहरि चित लाउ।
विषय-तृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाउ॥

जम-करि=यम-रूपी हाथी।

तरहरि=नीचे।

धरहरि=निश्चय।

नरहरि—नृसिंह भगवान् अर्थात् ईश्वर।

अलंकार—रूपक।

१३२

जगतु जनायौ जिहिं सकलु, सो हरि जान्यौ नाँहि।
ज्यौं आँखिनु सबु देखियै, आँखि न देखी जाँहि॥

जिहिं=जिसके द्वारा।

देखियै=देखा जाता है.

अलंकार—उदाहरण।

१३३

प्रगट भए द्विजराज-कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेस सब, केसव केसवराइ॥

द्विजराज=(१) चन्द्रमा, (२) ब्राह्मण।

जिराज-कुल=चन्द्रवंश, यदुवंश जो कि चन्द्रवंश की एक शाखा थी जिसमें कृष्ण ने अवतार लिया था।

केसव=कृष्ण।

स्ववश=अपनी इच्छा से।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट रूपक।

१३४

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं-ज्यौं बूड़ै स्याम-रंग, त्यौं-त्यौं उज्जलु होइ॥

स्याम-रंग=(१) काला रंग, (२) श्रीकृष्ण के अनुराग में।
उज्जलु=(१) निर्मल, पवित्र, (२) श्वेत।

अलंकार—विषम (दूसरा)।

१३५

जपमाला, छापैं, तिलक, सरै न एकौ कामु।
मन-कांचै नाचै बृथा, साँचै राँचै रामु॥

छापैं=छापे से, तप्त मुद्रा इत्यादि से।
मन काँचै=कच्चे मन वाला ही, विना सच्ची भक्ति वाला।
साँचै=सच्चे ही से।
राँचै=रंजित होता है।

अलंकार—अत्युक्ति, अनुप्रास।

१३६

मोहन-मूरति श्याम की, अति अद्भुत गति जोइ।
बसत सुचित-अंतर, तऊ, प्रतिबिंबितु जग होइ॥

अलंकार—तीसरी विभावना।

१३७

मैं समुझ्यो निरधार, यह जगु काँचो काँच-सो।
एकै रुपु अपार, प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ॥

निरधार=निर्धार (सिद्धान्त के अर्थ में)।
अपार=अनन्त, असंख्य।

अलंकार—उपमा, प्रमाण।

१३८

जहाँ-जहाँ ठाढ़ौ लख्यौ, स्यामु सुभग-सिरमौरु।
बिन हूँ उन छिनु गहि रहतु, दृगनु अजौं वह ठौरु॥

छिनु=थोड़ी देर के लिए, क्षण भर के लिए।

ठौरु=स्थान।

अलंकार—विभावना, स्मरण।

१३९

तजि तीरथ, हरि-राधिका-तन दुति करि अनुराग।
जिहिं ब्रज-केलि-निकुंज-मग पग-पग होतु प्रयाग॥

तन दुति=तन-द्युति (शरीर की कांति)।

अलंकार—काव्यलिंग, उल्लास, तद्‌गुण।

१४०

कीजै चित सोइ तरे, जिहिं पतितनु के साथ।
मेरे गुन-औगुन-गननु, गनौ न, गोपीनाथ॥

अलंकार—काव्यलिंग।

१४१

हरि, कीजति बिनती यहै, तुम सौं बार हज़ार।
जिहिं तिहिं भाँति डर्‌यौ रह्यौ, पर्‌यौ रहौं दरबार॥

डर्‌यौ=डला हुआ (लुढ़कता-पुढ़कता हुआ)।

अलंकार—लोकोक्ति।

१४२

(सोरठा)

मोहूँ दीजे मोषु, ज्यौं अनेक अधमनु दियौ।
जौ बाँधै ही तोषु, तौ बाँधौ अपनैं गुननु॥

मोषु=मोक्ष।

तोषु=संतोष।

गुननु=(१) गुणों से, (२) रस्सी (बाँधै शब्द के साथ 'गुण' का प्रयोग बहुत सुन्दर बन पड़ा है)।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट आक्षेप।

१४३

तौ लगु या मन-सदन में, हरि आवैं किहिं बाट।
विकट जटे जौ लगु निपट, खुटैं न कपट कपाट॥

तौ लगु=तब तक।

विकट='अत्यन्त दृढ़' के भाव में यहाँ प्रयुक्त हुआ है।

जटे=जड़े हुए।

खुटैं=खुले।

अलंकार—रूपक।

१४४

भजन कह्यो, तातैं भज्यौ; भज्यौ न एकौ बार।
दूरि भजन जातैं कह्यौ, सो तैं भज्यौं, गँवार॥

भज्यौ=भागा।

भज्यौ=स्मरण।

भजन=भागने।

भज्यौं=भोग किया, आसक्त होना।

अलंकार—यमक।

१४५

मोहिं तुम्हैं बाढ़ी बहस, को जीतै, जदुराज।
अपनैं अपनैं बिरद की, दुहूँ निबाहन लाज॥

अलंकार—सम।

१४६

दूरि भजत प्रभु पीठि दै, गुन-बिस्तारन-काल।
प्रगटत निर्गुन निकट रहि, चंग-रंग भूपाल॥

पीठि दै=(१) मुंह फेरकर, (२) पतंग में लगी कमानी की दूसरी ओर को पीठ कहते हैं—पतंग उड़ाते समय यही पार्श्व पतंग उड़ाने वाले की ओर रहता है।

गुण=(१) गुण, (२) डोरी।

बिस्तारन=बढ़ाना।

निर्गुन=(१) गुणातीत, (२) डोरीरहित, (३) गुणरहित।

चंग=पतंग।

रंग=समान।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट उपमा।

१४७

निज करनी सकुचेहिं कत, सकुचावत इहिं चाल।
मोहूँ से नित-विमुख-त्यौं, सनमुख रहि, गोपाल॥

त्यौं=ओर।

अलंकार—विषम।

१४८

करौ कुबत जगु, कुटिलता, तजौं न, दीनदयाल।
दुःखी होहुगे सरल हिय, बसत त्रिभंगी लाल॥

कुबत=बुराई, निन्दा।

अलंकार—सम (प्रथम)।

१४९

तौ अनेक औगुन-भरिहिं, चाहै याहि बलाइ।
जो पति संपति हूँ बिना, जदुपति राखे जाइ॥

औगुन=अवगुण, दुर्गुण ।

बलाइ=बला (लापरवाही अथवा उपेक्षा के भाव से) ।

पति=(१) प्रतिष्ठा, (२) स्वामी ।

अलंकार—संभावना

१५०

यह बरिया नहिं और की, तूँ करिया वह सोधि ।
पाहन-नाव चढ़ाइ जिहिं, कीने पार पयोधि ॥

बरिया=अवसर, समय ।

करिया=पतवार पकड़ने वाला, कर्णधार, माँझी, केवट ।

सोधि=स्मरण कर ।

पाहन-नाव=पत्थर की नाव (पत्थरों का पुल जिस पर से बन्दरों की सेना राम ने पार उतारी थी) ।

अलंकार—पर्यायोक्ति ।

१५१

पतवारी माला पकरि, और न कछू उपाउ ।
तरि संसार-पयोधि कौं, हरि-नावैं करि नाउ ॥

पतवारी=नाव का कर्ण—जिसके सहारे नाव इधर-उधर घुमाई जाती है ।

नाउ=नाव ।

अलंकार—रूपक ।

१५२

समै पलट पलटै प्रकृति, को न तजै निज चाल ।
भौ अकरुन करुनाकरौ, इहिं कपूत कलिकाल ॥

अकरुन=दयारहित

कपूत=(१) दुष्प्रकृति, (२) कु (क)+पूत=अपवित्र।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

१५३

प्रलय-करन बरषन लगे, जुरि जलधर इकसाथ।
सुरपति-गरबु हर्‌यौ हरषि, गिरिधर गिरि धरि हाथ॥

अलंकार—छेकानुप्रास, यमक।

श्रीकृष्ण का वीरत्व वर्णन है। हर्ष—संचारी है।

१५४

लोपे कोपे इन्द्र लौं, रोपे प्रलय अकाल।
गिरिधारी राखे सबै, गो, गोपी, गोपाल॥

अलंकार—**वृत्यनुप्रास**।

१५५

ज्यौं ह्वै हौं त्यौं होऊँगौ, हौं, हरि, अपनी चाल।
हठु न करौ, अति कठिनु है, मो तारिबो, गुपाल॥

ह्वै हौं=(होने वाला हूँगा)।

चाल=कर्म, क्रिया-प्रणाली।

अलंकार—सम, निषेधाभास, आक्षेपालंकार

१५६

सघन कुँज-छाया सुखद, सीतल सुरभि-समीर।
मनु ह्वै जातु अजौं वहै, उहि जमुना के तीर॥

अलंकार—धर्म लुप्तोपमा से परिपुष्ट विशेषोक्ति।

अनुक्रमणिका

(अकारादि क्रमानुसार पृष्ठ संख्या)

अ

अंग अंग-नग ३९

अजौं तर्‌यौना हीं ४७

अधर धरत ४३

अनियारे, दीरघ ३४

अनी बड़ी उमड़ी ६२

अरुनसरोरुह ३२

अरे, परेखौ ५४

आ

आवत जात ५१

इ

इक भीजें, चहलें ५७

इन दुखिया ४५

इहीं आस ५९

ओ

ओछे बड़े न ५२

क

कनकु कनक तें ५२

कब कौ टेरतु ६५

कर लै, सूँघि ५३

करी कुवत जगु ७०

कहत सबै कवि ४०

कहत सबै, बेंदी ४६

कहलाने एकत ३२

कहा भयौ, जौ ३५

कहा लड़ैते ४०

कहा लेहुगे ३७

कहै यहै श्रुति ६०

किती न गोकुल २८

कीजै चित सोई ६८

केसरि कै सरि २६

कैसें छोटे नरनु ५१

कोऊ कोरिक ६५

को कहि सके बड़ेन ६०

को छूट्यौ इहिं ५५

कोरि जतन कीजै तऊ ४५

कोरि जतन कोऊ करे, परे ५६

कौन सुनै ३८

ख

खौरि-पनिच २७

ग

गिरि तें ऊँचे ६२

गुनी-गुनी ६१

गोधन, तूँ ५३

घ

घरु-घरु डोलत ५१

च

चटक न छाँड़तु ५५
चल्यौ जाइ ५४
चितवनि रूखे ४५
चितु दै देखि ३४
चितुबितु बचतु ४३
चिरजीवौ जोरी ५०
चुवतु स्वेद ३०

छ

छकि रसाल ३३
छुटी न सिसुता की झलक ३९
छ्वै छिगुनी ४१

ज

जगतु जनायौ ६६
जपमाला, छापैं ६७
जब-जब वै ३८
जम-करि-मुँह-तरहरि ६६
जहाँ-जहाँ ठाढ़ौ ६८
जाकैं एकाएक ५२
जिन दिन देखे ६२
जो सिरधरि ६०
जौ चाहत ५९
ज्यौं-ज्यौं बढ़ति ३३
ज्यौं ह्वैं हौं ७२

झ

झूठे जानि ४७

त

तंत्री-नाद ६१
तजि तीरथ ६८
तौ अनेक ७०
तौ, बलियै ६४
तौ लगु या मन ६९

थ

थोरैं ही गुन ६५

द

दिन दस ५९
दुसह दुराज ६१
दूरि भजत ७०
दृग उरझत ४६
द्वैज-सुधा ३९

न

न ए बिससियहि ५६
नर की अरु नल-नीर की ५६
नहिं पराग ५७
नहिं पावसु ५७
नाचि अचानक ४३
नाह गरजि २८
नाहिंन ए ३२
निज करनी ७०
नित प्रति ६४
नीकौ लसतु २७

१३४

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं-ज्यौं बूड़ै स्याम-रंग, त्यौं-त्यौं उज्जलु होइ॥

स्याम-रंग=(१) काला रंग, (२) श्रीकृष्ण के अनुराग में।
उज्जलु=(१) निर्मल, पवित्र, (२) श्वेत।

अलंकार—विषम (दूसरा)।

१३५

जपमाला, छापैं, तिलक, सरै न एकौ कामु।
मन-कांचै नाचै बृथा, साँचै राँचै रामु॥

छापैं=छापे से, तप्त मुद्रा इत्यादि से।
मन कांचै=कच्चे मन वाला ही, बिना सच्ची भक्ति वाला।
साँचै=सच्चे ही से।
राँचै=रंजित होता है।

अलंकार—अत्युक्ति, अनुप्रास।

१३६

मोहन-मूरति श्याम की, अति अद्भुत गति जोइ।
बसत सुचित-अंतर, तऊ, प्रतिबिंबितु जग होइ॥

अलंकार—तीसरी विभावना।

१३७

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जगु काँचो काँच-सौ।
एकै रुपु अपार, प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ॥

निरधार=निर्धार (सिद्धान्त के अर्थ में)।
अपार=अनन्त, असंख्य।

अलंकार—उपमा, प्रमाण।

१३८

जहाँ-जहाँ ठाढ़ो लख्यौ, स्यामु सुभग-सिरमौरु।
बिन हूँ उन छिनु गहि रहतु, दृगनु अजौं वह ठौरु॥

छिनु=थोड़ी देर के लिए, क्षण भर के लिए।

ठौरु=स्थान।

अलंकार—विभावना, स्मरण।

१३९

तजि तीरथ, हरि-राधिका-तन दुति करि अनुराग।
जिहिं ब्रज-केलि-निकुंज-मग पग-पग होतु प्रयाग॥

तन दुति=तन-द्युति (शरीर की कांति)।

अलंकार—काव्यलिंग, उल्लास, तद्‌गुण।

१४०

कीजै चित सोइ तरे, जिहिं पतितनु के साथ।
मेरे गुन-औगुन-गननु, गनौ न, गोपीनाथ॥

अलंकार—काव्यलिंग।

१४१

हरि, कीजति बिनती यहै, तुम सौं बार हज़ार।
जिहिं तिहिं भाँति डर्‌यौ रह्यौ, पर्‌यौ रहौं दरबार॥

डर्‌यौ=डला हुआ (लुढ़कता-पुढ़कता हुआ)।

अलंकार—लोकोक्ति।

१४२

(सोरठा)

मोहूँ दीजे मोषु, ज्यों अनेक अधमनु दियौ।
जौ बाँधै ही तोषु, तौ बाँधौ अपनैं गुननु॥

मोषु=मोक्ष ।

तोषु=संतोष ।

गुननु=(१) गुणों से, (२) रस्सी (बाँधै शब्द के साथ 'गुण' का प्रयोग बहुत सुन्दर बन पड़ा है) ।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट आक्षेप ।

१४३

तौ लगु या मन-सदन में, हरि आवैं किहिं बाट ।
बिकट जटे जौ लगु निपट, खुटैं न कपट कपाट ॥

तौ लगु=तब तक ।

बिकट='अत्यन्त दृढ़' के भाव में यहाँ प्रयुक्त हुआ है ।

जटे=जड़े हुए ।

खुटैं=खुले ।

अलंकार—रूपक ।

१४४

भजन कह्यौ, तातैं भज्यौ; भज्यौ न एकौ बार ।
दूरि भजन जातैं कह्यौ, सो तैं भज्यौं, गँवार ॥

भज्यौ=भागा ।

भज्यौ=स्मरण ।

भजन=भागने ।

भज्यौं=भोग किया, आसक्त होना ।

अलंकार—यमक ।

१४५

मोहिं तुम्हैं बाढ़ी बहस, को जीतै, जदुराज ।
अपनैं अपनैं बिरद की, दुहूँ निबाहन लाज ॥

अलंकार—सम ।

१४६

दूरि भजत प्रभु पीठि दै, गुन-बिस्तारन-काल।
प्रगटत निर्गुन निकट रहि, चंग-रंग भूपाल॥

पीठि दै=(१) मुंह फेरकर, (२) पतंग में लगी कमानी की दूसरी ओर को पीठ कहते हैं—पतंग उड़ाते समय यही पार्श्व पतंग उड़ाने वाले की ओर रहता है।

गुण=(१) गुण, (२) डोरी।

बिस्तारन=बढ़ाना।

निर्गुन=(१) गुणातीत, (२) डोरीरहित, (३) गुणरहित।

चंग=पतंग।

रंग=समान।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट उपमा।

१४७

निज करनी सकुचेहिं कत, सकुचावत इहिं चाल।
मोहूँ से नित-बिमुख-त्यौं, सनमुख रहि, गोपाल॥

त्यौं=ओर।

अलंकार—विषम।

१४८

करौ कुबत जगु, कुटिलता, तजौं न, दीनदयाल।
दुःखी होहुगे सरल हिय, बसत त्रिभंगी लाल॥

कुबत=बुराई, निन्दा।

अलंकार—सम (प्रथम)।

१४९

तौ अनेक औगुन-भरिहिं, चाहै याहि बलाइ।
जो पति संपति हूँ बिना, जदुपति राखे जाइ॥

औगुन=अवगुण, दुर्गुण।
बलाइ=वला (लापरवाही अथवा उपेक्षा के भाव से)।
पति=(१) प्रतिष्ठा, (२) स्वामी।
अलंकार—संभावना

१५०

यह बरिया नहिं और की, तूँ करिया वह सोधि।
पाहन-नाव चढ़ाइ जिहिं, कीने पार पयोधि॥

बरिया=अवसर, समय।
करिया=पतवार पकड़ने वाला, कर्णधार, माँझी, केवट।
सोधि=स्मरण कर।
पाहन-नाव=पत्थर की नाव (पत्थरों का पुल जिस पर से बन्दरों की सेना राम ने पार उतारी थी)।
अलंकार—पर्यायोक्ति।

१५१

पतवारी माला पकरि, और न कछू उपाउ।
तरि संसार-पयोधि कौं, हरि-नावैं करि नाउ॥

पतवारी=नाव का कर्ण—जिसके सहारे नाव इधर-उधर घुमाई जाती है।
नाउ=नाव।
अलंकार—रूपक।

१५२

समै पलट पलटै प्रकृति, को न तजै निज चाल।
भौ अकरुन करुनाकरौ, इहिं कपूत कलिकाल॥

अकरुन=दयारहित

कपूत=(१) दुष्प्रकृति, (२) कु (क)+पूत=अपवित्र ।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास ।

१५३

प्रलय-करन बरषन लगे, जुरि जलधर इकसाथ ।
सुरपति-गरबु हर्‌यौ हरषि, गिरिधर गिरि धरि हाथ ॥

अलंकार—छेकानुप्रास, यमक ।

श्रीकृष्ण का वीरत्व वर्णन है । हर्ष—संचारी है ।

१५४

लोपे कोपे इन्द्र लौं, रोपे प्रलय अकाल ।
गिरिधारी राखे सबै, गो, गोपी, गोपाल ॥

अलंकार—वृत्यनुप्रास ।

१५५

ज्यौं ह्वै हौं त्यौं होउँगौ, हौं, हरि, अपनी चाल ।
हठु न करौ, अति कठिनु है, मो तारिबो, गुपाल ॥

ह्वै हौं=(होने वाला हूँगा) ।

चाल=कर्म, क्रिया-प्रणाली ।

अलंकार—सम, निषेधाभास, आक्षेपालंकार

१५६

सघन कुँज-छाया सुखद, सीतल सुरभि-समीर ।
मनु ह्वै जातु अजौं वहै, उहि जमुना के तीर ॥

अलंकार—धर्म लुप्तोपमा से परिपुष्ट विशेषोक्ति ।

अनुक्रमणिका

(अकारादि क्रमानुसार पृष्ठ संख्या)

अ

अंग अंग-नग ३९

अजौं तर्यौना हीं ४७

अधर धरत ४३

अनियारे, दीरघ ३४

अनी बड़ी उमड़ी ६२

अरुनसरोरुह ३२

अरे, परेखौ ५४

आ

आवत जात ५१

इ

इक भीजें, चहलें ५७

इन दुखिया ४५

इहीं आस ५९

ओ

ओछे बड़े न ५२

क

कनकु कनक तें ५२

कब कौ टेरतु ६५

कर लै, सूँघि ५३

करौ कुबत जगु ७०

कहत सबै कवि ४०

कहत सबै, बेंदी ४६

कहलाने एकत ३२

कहा भयौ, जौ ३५

कहा लड़ैते ४०

कहा लेहुगे ३७

कहैं यहै श्रुति ६०

किती न गोकुल २८

कीजै चित सोई ६८

केसरि कै सरि २६

कैसें छोटे नरनु ५१

कोऊ कोरिक ६५

को कहि सकै बड़ेन ६०

को छूट्यौ इहिं ५५

कोरि जतन कीजै तऊ ४५

कोरि जतन कोऊ करे, परे ५६

कौन सुनै ३८

ख

खौरि-पनिच २७

ग

गिरि तें ऊँचे ६२

गुनी-गुनी ६१

गोधन, तूँ ५३

घ

घरु-घरु डोलत ५१

च

चटक न छाँड़तु ५५
चल्यौ जाइ ५४
चितवनि रूखे ४५
चितु दै देखि ३४
चितुवितु वचतु ४३
चिरजीवौ जोरी ५०
चुवतु स्वेद ३०

छ

छकि रसाल ३३
छुटी न सिसुता की झलक ३९
छ्वै छिगुनी ४१

ज

जगतु जनायौ ६६
जपमाला, छापैं ६७
जव-जव वै ३८
जम-करि-मुँह-तरहरि ६६
जहाँ-जहाँ ठाढ़ौ ६८
जाकैं एकाएक ५२
जिन दिन देखे ६२
जो सिरधरि ६०
जौ चाहत ५९
ज्यौं-ज्यौं वढ़ति ३३
ज्यौं ह्वैं हौं ७२

झ

झूठे जानि ४७

त

तंत्री-नाद ६१
तजि तीरथ ६८
तौ अनेक ७०
तौ, बलियै ६४
तौ लगु या मन ६९

थ

थोरैं ही गुन ६५

द

दिन दस ५९
दुसह दुराज ६१
दूरि भजत ७०
दृग उरझत ४६
द्वैज-सुधा ३९

न

न ए विससियहि ५६
नर की अरु नल-नीर की ५६
नहिं पराग ५७
नहिं पावसु ५७
नाचि अचानक ४३
नाह गरजि २८
नाहिन ए ३२
निज करनी ७०
नित प्रति ६४
नीकौ लसतु २७

नीच हियें ५८
नीचीयै नीची ४२
नेहु न, नैननु कौं ४५
नैना नैंक न ४३

प

पटु पाँखै ३५
पतवारी माला ७१
पत्रा हीं तिथि ३६
पावस-घन-अँधियार ३१
पिय-मन रुचि ३५
प्रगट भए ६६
प्रलय-करन ७२

ब

बंधु भए ६५
बड़े न हूजै ५२
बढ़त-बढ़त ५६
बतरस-लालच ४५
बर जीते सर ३८
बसै बुराई ६१
बहकि बड़ाई ५१
बहके, सब जिय ४८
बाल, कहा ४३
बुरौ बुराई ५५
बैठि रही अति ३१
ब्रजबासिनु ३४

भ

भजन कह्यो ६६
भावरि-अनभावरि-भरे ५५
भूषण-भारू ४७

म

मंगलु बिंदु सुरंगु ३६
मकराकृति गोपाल २६
मन-मोहन सौं २८
मरतु प्यास ५६
मरनु भलौ ४०
मीत, न नीति ५८
मूड़ चढ़ाऐंऊ ५४
मेरी भव बाधा २५
मैं समुझ्यौ ६७
मोरचन्द्रिका ५३
मोर-मुकुट २५
मोहन-मूरति ६७
मोहि तुम्हें ६९,
मोहूँ दीजे ६८

य

यह बरिया ७१
या अनुरागी ६७
याकें उर ३७
या भव पारावार ५८

र

रनित भृङ्ग-घंटावली ३०
रससिंगार मंजनु ३७
रहें तिगोड़े ४४

रुक्यो सांकरें ३१

ल

लखि, लोने ३७
लगत सुभग ३०
लपटी पुहुप ३१
लाज लगाम ३४
लाल, तुम्हारे विरह की ३६
लिखन बैठि ४६
लोपे कोपे ७२
लोभ लगे ४१

व

विकसित-नवमल्ली ४४
वे न इहाँ ५४

स

संगति-दोष ४२
संगति सुमति ५०
सखि, सोहति २५
सघन कुंज ७२
सतर भौंह ४०
सबें हँसत ५०
समै पलट ७१
समैं-समैं ६०
सरस सुमिल ४४
सायक-सम ३५
सीतलताऽरु ४६
सीस-मुकुट, कटि ६४
सोहत ओढें २८
स्वारथ, सुकृतनु ६२

ह

हरि, कीजति ६८
हरि-छवि-जल २६
हौं ही बौरी ४१

Date 70145